नाट्यम्

103-104

नाट्यम्

103–104

ISSN : 2229-5550, UGC Care Listed Journal

संरक्षक
नीलिमा गुप्ता
कुलपति

संस्थापक संपादक
राधावल्लभ त्रिपाठी

संपादक
आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

प्रबन्ध संपादक
सञ्जय कुमार

संपादक मण्डल
नौनिहाल गौतम, रामहेत गौतम
शशिकुमार सिंह, किरण आर्या

प्रकाशक
नाट्य परिषद्, संस्कृत-विभाग
डाक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय) सागर, (म.प्र.)

नाट्यम् **103-104, अक्टूबर 2022-मार्च 2023**
रंगमंच एवं सौन्दर्यशास्त्र की पूर्वसमीक्षित त्रैमासिक शोधपत्रिका

ISSN : 2229-5550
UGC Care List Journal, S.N.17
नाट्य परिषद् **(पंजीकरण क्र. 100066)**
संस्कृत-विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, (म.प्र.)
दूरभाष-फैक्स (कार्यालय) 07582-264366 पिन-470 003

Natyam : A Quarterly Journal of theatre and aesthetics
published by Natya Parisad. Deptt. of Sanskrit,
Doctor Harisingh Gour University, Sagar,
Madhya Pradesh-Pin-470 003. India.
Phone-Fax (off.) : 07582-297149

सदस्यता शुल्क :
विशेषांक - 200/- रु.
प्रत्येक अंक - 100/- रु., वार्षिक - 400/- रु.
वार्षिक सदस्यता व्यक्तिगत - 2000/- रु.
पांच वर्षीय सदस्यता (संस्थागत) - 5000/- रु.
इस अंक का मूल्य - 200/- रु.

यह शुल्क मनीआर्डर, चेक या नगद दिया जा सकता है
जो नाट्य परिषद्, संस्कृत-विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर के नाम देय होगा।

पत्रव्यवहार :
प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, (म.प्र.) 470003
e-mail : sanskritsagar1946@gmail.com
natyamsagar@gmail.com
07582297149 Mob : +919425656284
© सर्वाधिकार सुरक्षित
आवरण चित्र : स्तुति जैन
मुद्रण : अजय जैन, **अमन प्रकाशन** नमक मंडी,
कटरा, सागर (म.प्र.) मो. 9826434225

नाट्यम् में प्रकाशित नाटकों के अनुवादों/रूपान्तरों या किसी भी अन्य सामग्री की किसी भी रूप में प्रस्तुति के लिए *नाट्य परिषद्* से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति अथवा विचारों से *नाट्य परिषद्*, संपादक या संपादक मंडल की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय

नाटक एक विशिष्ट सोद्देश्यपूर्ण विधा है । इस विचार की पुष्टि संस्कृत नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों से होती है। प्रथम दृष्टया, मनुष्य ने जब कोई नाट्य देखा होगा तब उसे जिस आंतरिक आह्लाद की अनुभूति हुई होगी और नाटक के पात्रों के सात्विक, वाचिक, आंगिक और आहार्य अभिनय की विशेषताओं के द्वारा नाटक की कथावस्तु से उसका परिचय हुआ होगा तब उसके मन में आनंद की अनुभूति अवश्य हुई होगी। दर्शन की चेतना मानव सभ्यता के मूल में रही है। दर्शन केंद्रित नाटकों में भारतीय दर्शन के महत्व को निरूपित करना नाटकों का उद्देश्य रहा है, किंतु कहीं न कहीं अर्थ भी नाट्य-रचना के उद्देश्य से जुड़ा रहा है। कीथ के अनुसार नाटक की स्थिति तभी मानी जा सकती है जब अभिनेता आर्थिक लाभ के लिए नहीं, बल्कि स्वयं के तथा दूसरों के मनोरंजन के लिए भी अभिनय करें। इसलिए अगर वैदिक कर्मकांड में नाट्यतत्त्व है तो भी उनका उद्देश्य नाट्य नहीं, बल्कि जादुई परिणामों की प्राप्ति ही अधिक है। (संस्कृत ड्रामा,पृ 24) कीथ के इस कथन के संदर्भ में हमें कहना है कि वैदिक कर्मकांड में परिपक्व नाटक जब लिखे गए तब उनका उद्देश्य दार्शनिक रहा होगा। यह भी सही है कि संस्कृत नाटक की उत्पत्ति तथा विकास में वैदिक कर्मकांड सहायक हुआ है। मरजोरी बाउल्टन के इस कथन को कैसे अनदेखा किया जा सकता है, जिसमें वे कहते हैं कि संसार के प्रत्येक देश में एक समय नाटक का अनिवार्य संबंध धर्म से भी रहा है। भरतमुनि के काल में और बाद में लौकिक साहित्य में नाटकों की खूब चर्चा हुई है। नाटक को पंचम वेद कहा गया है, क्योंकि इसमें ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का समावेश किया गया है यही अवधारणा नाटक को पंचम वेद कहने के मूल में निहित है। समय के साथ-साथ संस्कृत नाटकों की रचना और उसके स्वरूप, शिल्प और उद्देश्य में बड़ा परिवर्तन हुआ। आधुनिक युग में आकर यह परिवर्तन नाट्य तत्व के मूल स्वरूप में व्यापक तौर पर हुआ और नवीन प्रयोगों के कारण संस्कृत नाट्य साहित्य के उद्देश्य में नया बदलाव हमें देखने को मिलता है। धर्म क्षेत्र से बाहर निकलकर संस्कृत नाटक जीवन के व्यापक यथार्थ से जुड़ा। हास्य, युद्ध, काम और वध आदि के संदर्भों से जुड़ते ही 'तीनों लोकों में भावानुकीर्तन' के रूप में समूचे जीवन को उसकी संपूर्ण अच्छाइयों व बुराइयों के साथ ग्रहण किया गया है। नाटक का संबंध विशुद्ध साहित्यिक उद्देश्य-रस निष्पत्ति

से जुड़ गया। धर्म, अर्थ, काम, लोकोपदेश, ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला आदि सभी कुछ संस्कृत नाटकों में स्थान पाने लगे । यदि हम यह विचार करें कि यह सारी बातें या यह परिवर्तन आखिर किसके लिए हुआ? तो आचार्य भरत के अनुसार रस की निष्पत्ति है, जिसे मनोरंजन भी कहते हैं। 'सिद्धि व्यंजनम्' शीर्षक अध्याय में आचार्य भरत ने विस्तार से नाटक के प्रेक्षकों की प्रतिक्रियाओं को महत्त्व दिया है, क्योंकि उन्हें इष्ट धर्म की प्राप्ति नहीं है। प्रेक्षकों की रसाभिमुक्ता प्रमुख है। कालांतर में भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, श्रीहर्ष आदि लेखकों के चिन्तन में यथार्थवादी तत्त्वों के समावेश के बावजूद उनकी दृष्टि में नाटक रसनिष्पत्ति में सहायक हैं। यही नाटक का साहित्यिक उद्देश्य भी है। प्रेक्षकों की भिन्न अभिरुचि भी यही है। आनंद इस पूरी प्रक्रिया में अंतर्निहित है जो मंचन के दौरान दर्शक की मनोभूमि को रसविभोर कर देता है। यहां एक बात और ध्यातव्य है कि मोह पराजय, चौतन्य, चन्द्रोदय जैसे नाटकों की पृष्ठभूमि में धर्म अवश्य मौजूद है, किंतु उसकी मूल चेतना में रसानुभूति उद्देश्य के रूप में विद्यमान है।

विश्वविद्यालय की उदारमना, कर्मयोगी, कल्पनाशील और नवोन्मेषित माननीया आदरणीया कुलपति प्रोफेसर नीलिमा गुप्ता जी के संरक्षकत्व में संस्कृत विभाग की यह शोध पत्रिका नाट्य साहित्य के सम्पादन के क्षेत्र में नये प्रतिमान गढ़ेगी। ऐसा हम सभी का अटूट विश्वास है। उनकी सतत प्रेरणा और मार्गदर्शन पाकर हम कृतार्थ हैं और उनके प्रति प्रणति निवेदित करते हैं।

नाट्यम् शोध-पत्रिका का यह अंक अपनी मूल्यवान शोध सामग्री के कारण विशिष्ट बन पड़ा है। संस्कृत की नयी अध्यापक पीढ़ी की प्रतिभा, विषय के प्रति उसकी निष्ठा, भारतीय ज्ञान-परंपरा की परख और आधुनिक भारतीय समाज में उसकी मूल्यवत्ता की समझ को उनके शोध लेखों में देखकर हमारा विश्वास सुदृढ़ हुआ है कि निश्चित ही संस्कृत साहित्य में शोध की अभिनव दृष्टि और दिशा से शोध लेखन परंपरा की नयी संभावनाएं विकसित होंगी।

इस अंक के लेखकों और नाट्यम् के संपादक मंडल के सदस्यों के सहयोग के लिए हार्दिक साधुवाद। यह अंक आप सभी को पसंद आएगा, इस विश्वास के साथ नाट्यम् पत्रिका आपको सौंप रहा हूं।

हार्दिक शुभकामनाएँ

आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

अनुक्रम

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् में चित्रित वैदिक संस्कृति 07
प्रभात कुमार सिंह

2. पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः 14
सकीना कुमारी सालवी

3. मुद्राराक्षस में औचित्य-विमर्श 21
रवीन्द्र कुमार पंथ

4. सिद्धेश्वर चट्टोपाध्याय कृत ननाविताडन 30
शान्तनु प्रधान

5. शिवसागर त्रिपाठी कृत पद्मिनीरत्नम् 33
शालिनी सक्सेना

6. मृच्छकटिकम् में हास्य रस 41
राजेश मीणा

7. वैदिक साहित्य और नाटक : आधार-आधेय 48
अभिनेश्वर सिंह

8. कर्पूरमंजरी में विहित धार्मिक आस्थाएं एवं महोत्सव 59
सीमा यादव

9. लोकधर्म के उत्कृष्ट निदर्शन : उत्तररामचरितम् के राम 64
अशोक कँवर शेखावत

10. अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नाट्य प्रतिभा 72
श्रीमति मौमिता घोष

11. अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटक में प्रशासनिक व्यवस्था 81
अम्बरीश

12. कालिदास के नाटकों में दार्शनिक तत्त्व 88
किरण आर्या

13. मालतीमाधव में रस विवेचन 95
सुकदेव वाजपेयी

14. **उत्तररामचरितम् में वर्णित नदियाँ** 101
मैत्रेयी कुमारी
15. **प्रतिमानाटक एवं अभिषेकनाटक में राम** 111
रंजना यादव
16. **कालिदास के नाटकों में आयुर्वेदीय विवेचन** 118
पूजा कुमारी एवं प्रो. गोपाल लाल मीणा
17. **भास की कृतियों में हास्य निरूपण** 127
दशरथ कुमार चौधरी
18. **संस्कृत नाटकों में स्त्री शिक्षा के विविध आयाम** 133
हेमन्त शर्मा
19. **प्रसन्नराघवम् में अलङ्कार - योजना** 143
संदीप कुमार यादव
20. **कालिदास के नाटकों में राजधर्म** 150
सञ्जय कुमार
21. **छत्रपतिसाम्राज्यम् में स्वतंत्रता का स्वर** 158
नौनिहाल गौतम
22. **प्रतिमानाटक में सामाजिक और राष्ट्रीय गौरव** 164
रामहेत गौतम
23. **भवभूति के कृतियों में स्त्री का भावनात्मक स्वरूप** 172
शशिकुमार सिंह
24. **कालिदास कृत नाटकों में चारित्रिक शिक्षा : वर्तमान प्रासंगिकता** 180
वर्षा खण्डेलवाल
25. **संस्कृत नाट्य-परंपरा का भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य पर प्रभाव** 192
आनन्दप्रकाश त्रिपाठी
लेखक परिचय 198

1

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में चित्रित वैदिक संस्कृति

प्रभात कुमार सिंह

महाकवि कालिदास द्वारा विरचित सप्तांकों से संवलित अभिज्ञान शाकुन्तलम् संस्कृत जगत् का अद्वितीय नाटक है। यह एक ऐसा नाटक है जिसे सभी सहृदय पढ़ना एवं देखना चाहते हैं। सामाजिक इस नाटक को देखते समय जहाँ एक ओर प्रेम का उत्कर्ष देखता है वहीं दूसरी ओर कालिदास द्वारा चित्रित वैदिक संस्कृति के अनुपम आदर्श को भी हृदयंगम करता है। क्योंकि महाकवि कालिदास की वेदों के प्रति अगाध श्रद्धा थी। इसीलिए उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में यथावसर वैदिक संस्कृति के मूलतत्वों-यज्ञीय क्रियाकलाप, प्रकृति पूजा, देवों की स्तुति, सत्य, अहिंसा, पाप - पुण्य, मानवीय मूल्य, सद्भाव एवं विश्वबन्धुत्व आदि के महत्व को अत्यन्त सजगता से वर्णित किया है। इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी वैदिक संस्कृति का बहुत ही मनोरम चित्रण किया है।

वेदों में वेदविद् ऋषियों ने मानव जाति के कल्याण हेतु प्रकृति-पूजा के महत्त्व को प्रतिपादित किया। उन्होंने चारों वेदों में प्रति के मूलतत्वों-सूर्य, पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि, वृक्ष, वनस्पतियाँ एवं पर्यावरण संशोधन हेतु यज्ञीय क्रियाकलापों का अत्यन्त विशदता के साथ वर्णन किया है। वैदिक काल में आर्य प्रकृति के क्रोड में ही अपनी सम्पूर्ण गतिविधियों को सम्पादित करते थे इसीलिए वे प्रकृति के मूलतत्वों के महत्व की अनुभूति करके उनमें अलौकिक शक्ति की परिकल्पना की और उनकी देवों के रूप में स्तुति करने लगे। यह पृथक् विषय है कि उनकी वह स्तुति विविध रूपों में प्राप्त होती है। यथा- यज्ञ के रूप में, यज्ञीय क्रियाकलाप के रूप में, नदियों की पूजा के रूप में, देवों के माहात्म्य वर्णन के रूप में,

संवाद के रूप में, चिन्तन मनन के रूप में। इस स्तुति के माध्यम से ही वैदिक आर्य स्वकल्याण के साथ-साथ विश्वकल्याण की कामना करते थे-यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्, कृण्वन्तो विश्वमार्यम्, संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मानंसि जानताम्। जो कि परवर्ती काल में भी संस्कृतिकृत कवियों के द्वारा लोक कल्याण हेतु किसी न किसी रूप में वर्णित किए गए हैं। जब महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् का अध्ययन करते हैं तो यह देखते हैं कि वहाँ पर लेखक ने अत्यन्त चतुराई से यत्र तत्र वैदिक संस्कृति की झलक को रेखांकित किया है। जिससे कि नाटक को देखने वाला सामाजिक तथा पढ़ने वाला पाठक नाटक के आनन्द के साथ-साथ वैदिक संस्कृति से भी परिचित हो सकें। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में वैदिक संस्कृति के प्रमुख तत्व-यज्ञ अथवा यज्ञीय क्रियाकलापों का सुन्दर निदर्शन मिलता है। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान- शाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में यज्ञों के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए ही यज्ञशाला का चित्रण करते हैं- **अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं बिना छन्दोमय्यावाणी।**[1] यहाँ तक कि नाटक के नायक राजा दुष्यन्त को ही यज्ञों की सुरक्षा हेतु उपस्थित करते हैं। द्वितीय अंक में यज्ञीय क्रियाकलापों में विघ्न डालने वाले राक्षसों से रक्षा करने हेतु जब दोनों ऋषि कुमार राजा दुष्यन्त से निवेदन करते हैं कि आप कुछ दिन सारथी के साथ रहकर आश्रम को सनाथ कीजिए-

तत्र भवतः कण्वस्य महर्षेरसानिध्याद् रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति। तत् कतिपयरात्रु सारथिद्वितीयेन भवथा सनाथीक्रियतामाश्रमिति।[2]

तब राजा दुष्यन्त यज्ञ की रक्षा करने हेतु रुकने की सहर्ष स्वीकृति प्रदान करता है। इससे यज्ञीय क्रियाकलापों की महत्ता का दिग्दर्शन होता है अन्यथा राजा स्वयं न रुक कर यज्ञ के रक्षणार्थ अपने सैनिक इत्यादि को भेज देता। किन्तु ऐसा न करके वह अपने सम्पूर्ण राजकीय कार्यों को छोड़कर यज्ञरक्षणार्थ आश्रम में स्वयं रुकता है। इस घटना के माध्यम से महाकवि कालिदास नाटक के दर्शकों एवं पाठकों के मन में वैदिक संस्कृति के मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं। इसी प्रकार चतुर्थ अंक में भी जब ऋषि काश्यप शकुतन्ला को विदाई के समय आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि पुत्री आओ अभी हवन की गई अग्नियों की प्रदक्षिणा करो- **वत्से इतः सद्योहुताग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व।**[3] पुत्री ये समिधाओं से प्रज्वलित, वेदी के चारों ओर प्रतिष्ठित, किनारे पर बिछे हुए कुशों से युक्त यज्ञीय अग्नियाँ हव्य वस्तुओं की सुगन्ध से पापों विघ्नों को नष्ट करती हुई तुझे पवित्र करें-

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्णयाः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु।[4]

प्रस्तुत स्थल पर भी कालिदास ने यज्ञीय क्रियाकलापों की मानव जीवन में क्या अनिवार्यता अथवा महत्ता है? को प्रतिपादित किया है। यहाँ पर तो कालिदास ने आश्रम के कुलपति ऋषि कण्व के मुख से ही यज्ञों की महत्ता को बतलाया है। कण्व अपने आशीर्वाद के माध्यम से बताते हैं कि यज्ञों को करने से प्रथमतः तो मानव के किए गए पाप भी नष्ट हो जाते हैं एवं सभी प्रकार की विघ्न बाधाएँ भी समाप्त हो जाती हैं और पुनः ये यज्ञीय गतिविधियाँ मानव को मनसा वाचा कर्मणा पवित्र भी कर देती हैं। इस प्रकार यह देखते हैं कि कण्व यज्ञों के माहात्म्य का बहुत सांगोपांग वर्णन करते हैं। नाटक की समाप्ति पर भी महर्षि मारीच इसी यज्ञीय प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए राजा दुष्यन्त को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि-

तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयस्व।[5]

इन्द्र तुम्हारी प्रजा के हित के लिए प्रचुर वृष्टि करें तथा तुम भी विस्तृत यज्ञों के द्वारा इन्द्र को प्रसन्न करना। इस प्रकार नाटक के समापन पर भी एक बार पुनः कालिदास सामाजिकों एवं पाठकों को स्मरण दिलाना चाहते हैं कि हमें यज्ञीय कार्यों में सतत संलग्न रहना चाहिए। उनसे विमुख नहीं होना है।

यदि सूक्ष्मदृष्ट्या चिन्तन करें तो यह देखते हैं कि महाकवि कालिदास ने सम्पूर्ण अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक की परिकल्पना ही वैदिक संस्कृति के आश्रम व्यवस्था को केन्द्रबिन्दु में रखकर की है। नाटक के तीन चौथाई भाग का कथानक आश्रमों के इर्द-गिर्द ही घूमता है केवल एक चौथाई भाग ही राजा दुष्यन्त के महल में चित्रित किया गया है। अधिकांश घटनाएँ ऋषि कण्व एवं ऋषि मारीच के आश्रम में सम्पन्न होती हैं। इससे यह प्रतिध्वनित होता है कि कालिदास ने वैदिक कालीन संस्कृति को ध्यान में रखकर ही सम्पूर्ण नाटक को वर्णित किया है।

वैदिक संस्कृति में प्रकृति पूजा का प्रमुख स्थान है। ऋग्वैदिक आर्य अपनी सम्पूर्ण गतिविधियाँ प्रकृति के केन्द्र में ही सम्पादित करते थे। इसीलिए वेदों में ऋषियों के द्वारा अग्नि, सूर्य, वायु, जल, पृथ्वी आदि की स्तुति मुक्तकण्ठ से की गई है। ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों में इन प्राकृतिक शक्तियों की ही स्तुति विविध

देवों के रूपों में की गई है। वैदिक संस्कृति में प्रतिपादित प्रकृति पूजा महाकवि कालिदास को अत्यन्त प्रिय थी इसीलिए उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों- महाकाव्यों, खण्डकाव्यों एवं नाटकों में प्रकृति को प्रमुखता से चित्रित किया है। ऋतुसंहार नामक खण्डकाव्य तो पूर्णरूपेण प्रकृति वर्णन पर ही आधारित है। किन्तु प्रकृति का सबसे अनुपम दृश्य अभिज्ञानशाकुन्लम् में प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने नाटक का आरम्भ और समापन प्रति वर्णन से ही किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रति मानव की भावनाओं का साक्षी है तभी तो शकुन्तला के विदाई के समय वृक्ष वनस्पतियाँ पीले पत्ते गिराकर मानो आंसू बहा रहे हैं। वह शकुन्तला गमन के दुख को प्रकट कर रहे हैं- **अपसृतपाण्डुपत्रः मञ्चन्त्यश्रूणीव लताः।**[6] वैदिक संस्कृति में प्रकृति अधिकांशतः स्तुत्य रूप में थी किन्तु अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मानव के सहगामी (भावनात्मक) सम्बन्धों की निर्वाहिका है। इसीलिए तो शकुन्तला खुद पानी पीने के पहले वृक्ष वनस्पतियों को जल प्रदान करती है। सौन्दर्यप्रिय होने पर भी पुष्पों के कष्ट का अनुभव करके उनको तोड़ती नहीं है -

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं यष्माष्वपीतेशु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।[7]

कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तम् में प्रकृति एवं मानव का ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया है जिसमें दोनों को एक दूसरे की चिन्ता है तभी तो पंचम अंक में जब राजा प्रतिहारी के द्वारा यह सूचना प्राप्त करता है कि ऋषि कुमार महर्षि कश्यप का सन्देश लेकर आए हैं तो वह सशंकित होता है कि क्या मेरे किन्ही कुकृत्यों से लताओं में फल-फूल आदि आना रुक गया है- **आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विशटम्भितो वीरूधां।**[8] राजा को प्रकृति के साथ किए गए अपने व्यवहार पर चिन्ता हो रही है अर्थात् राजा प्रकृति के कष्टों का तथा प्रकृति शकुन्तला के गमन विषयक कष्ट की अनुभूत करती है। इस प्रकार मानव एवं प्रकृति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। वैदिक संस्कृति में प्रकृति का (प्राकृतिक शक्तियों अर्थात् देवताओं का) मानवीकरण किया गया है अर्थात् मानव जैसा सम्बन्ध-माता, पिता, पति, भाई-बहन, भोजन, वस्त्र, आभूषण, अस्त्र शस्त्र, सुख-दुख आदि की परिकल्पना करना। अग्नि आदि देवताओं का मानवीकरण करते हुए उनके मानव जैसे भोजन, वस्त्र, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र एवं सम्बन्धों का वर्णन किया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तम् में इस मानवीकरण का उत्कृष्ट उदाहरण

चतुर्थ अंक में द्रष्टव्य है। शकुन्तला कहती है कि आम वनज्योत्सना का पति है। वह अपनी शाखा रूपी बाहुओं से मुझसे गले मिले-(**उपेत्यलतामालिंङ्य) वनज्योत्सने चूतसंगताऽपि मां प्रत्यलिङ्गेतोगताभिः शाखाबहुभिः।**[9] वैदिक संस्कृति में जिन प्राकृतिक शक्तियों (अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथ्वी और सूर्य आदि) का विवेचन ऋषियों ने सम्पूर्ण वैदिक संहिताओं में विभिन्न रूपों में किया है उनका समेकित माहात्म्य महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के मात्र एक श्लोक में करते हुए कहते हैं कि-

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे काले विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।[10]

अर्थात् जो विधाता की सर्वप्रथम सृष्टि है (अर्थात् जलरूप मूर्ति) जो विधिपूर्वक हवन की गई हवि को देवताओं के पास ले जाती है (अर्थात् अग्निरूप मूर्ति) जो होता है (अर्थात् यजमान रूप मूर्ति) जो दो समय का निर्धारण करती है (अर्थात् सूर्य और चन्द्र रूपी मूर्तियाँ जो दिन और रात को बनाती हैं) शब्द जिसका गुण है और जो विश्व में व्याप्त होकर विद्यमान है (अर्थात् आकाश रूपी मूर्ति) जिसको (विद्वान्) समस्त बीजों का कारण कहते हैं (अर्थात् पृथ्वी रूप मूर्ति) और जिससे सभी प्राणी जीवित रहते हैं (अर्थात् वायुरूप मूर्ति) उन प्रत्यक्ष आठ मूर्तियों से युक्त ईश्वर (शिव) आप लोगों की रक्षा करें। इस प्रकार नाटक के आरम्भ में ही कालिदास ने प्रकृतिमय देवी देवताओं की स्तुति के माध्यम से प्रकृति-पूजा के महत्व को पाठकों और दर्शकों के सम्मुख विस्तृत रूप से वर्णित कर दिया है। वे अपने इस स्तुति में सम्पूर्ण सृष्टि का कारक एवं संचालक जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, सूर्य, चंद्रमा, आकाश एवं वायु को बताते हैं और इन सभी तत्वों को शिव में समाहित करते हुए कहते हैं कि वह शिव आप सबकी रक्षा करें अर्थात वैदिक सिद्धांत एकं सद् विप्राः बहुधा वदिन्त को भी यहाँ पर स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया गया है। जिस प्रकार ऋषियों ने उस एक परमात्मा को विविध रूपों (पृथक्-पृथक् देवताओं के रूप में) वर्णित किए हैं, उसी प्रकार कालिदास ने भी एकमात्र परमेश्वर शिव अर्थात ईश्वर को विविध रूपों (अष्ट मूर्तियों के रूप में) वर्णित किया है। वैदिक काल में वर्णित प्राकृति पूजा का यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। अभिज्ञानशाकुन्तलम्

का आरम्भ ही इन प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति से किया गया है। जिससे पाठक व दर्शक प्राकृतिक शक्तियों का जीवन में क्या महत्व है इसको भली-भाँति समझ सके। इसी प्रकार चतुर्थ अंक में शकुन्तला के विदाई गमन के समय कालिदास वायु की स्तुति करते हुए कहते हैं कि वायु शान्त एवं अनुकूल हो तथा कल्याणकारी हो- **शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः।**[11]

वेदों में प्राकृतिक शक्तियों के रूप में नदियों की स्तुति भी प्रमुखता से की गई है। यथा -सरस्वती शतद्रु, विपाशा, आदि। इन नदियों के महत्व को प्रतिपादित करने के लिए ही कालिदास ने नाटक में महर्षि कण्व का आश्रम मालिनी नदी के तट पर वर्णित किया है। नाटक की प्रमुख घटना अंगूठी (अभिज्ञान का माध्यम) का खोना भी शची तीर्थ में सम्पादित करवाना नदियों के प्रति दर्शकों और पाठकों का ध्यान केंद्रित करने हेतु ही प्रायोजित की हुई प्रतीत होती है। जिससे पाठक व दर्शक नदियों के प्रति ध्यान केन्द्रित कर सकें। नदियाँ जल का प्रमुख स्रोत हैं। मानव का जीवन जल पर आश्रित है अतः उन नदियों का संरक्षण करना व स्वच्छ रखना मानव का परम कर्तव्य है। इसी उद्देश्य से महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नदियों का चित्रण किया है।

अहिंसा वैदिक संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। जिस पर वैदिक ऋषियों ने विशेष बल दिया है। इस विशिष्टता का चित्रण अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में भलीभाँति दृष्टिगत होता है। जब राजा दुष्यन्त शिकार हेतु मृग का पीछा करते हुए उसके समीप पहुँचते हैं, तब तपस्वी राजा से कहता है कि-**भो भो राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यो।**[12] हे राजन! यह आश्रम का मृग है। इसे न मारिए न मारिए। **न खलु न खलु बाणः सन्निपातात्योऽयमस्मिन्नूमृदूनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।**

क्व वत हरिणकानां जीवितंक्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते।

तत् साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्। आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।[13]

प्रस्तुत स्थल पर कालिदास ने स्पष्ट रूप से अहिंसा के महत्व को वर्णित करते हुए बताया है कि सशक्त लोग पीड़ितों, असहायों, दीन हीन की सहायता करें न कि उनकी हिंसा करें। इसी का प्रभाव था कि आगे चलकर पांचवें अंक में जब राजा प्रतिहारी के द्वारा यह सूचना प्राप्त करता है कि ऋषि कुमार महर्षि कश्यप का

संदेश लेकर आए हैं तो वह स्वयं इन मृगों पर किसी असुरक्षा होने की चिंता करता हुआ कहता है कि - **केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम् ।**[14] क्या तपोवन में विचरण करने वाले प्राणियों (मृग आदि) पर किसी ने अनुचित चेष्टा की है ।

इस प्रकार यह देखते हैं कि महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में वैदिक संस्कृति के सभी प्रमुख पक्षों यज्ञ अथवा यज्ञीय क्रियाकलाप, प्रकृति-पूजा, अहिंसा, धर्म, एवं सदाचरणों को प्रसंगतः सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। उपरोक्त सभी प्रसंग वैदिक संस्कृति को प्रतिध्वनित करते हैं। जिससे पाठक व दर्शक नाटक की रसानुभूति के साथ-साथ वैदिक संस्कृति के महत्व को भी आत्मसात करते हुए अपने जीवन में उसका अनुपालन करके स्व कल्याण के साथ-साथ विश्व कल्याण के मार्ग को प्रशस्त कर सकता है।

सन्दर्भ

1. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् ,अंक,4. वाक्य,40 ।*
2. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,2. वाक्य,74 ।*
3. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,4. वाक्य,76 ।*
4. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,4.8 ।*
5. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,7.34 ।*
6. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,4.12 ।*
7. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,4.9 ।*
8. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,5.9 ।*
9. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,4.वाक्य,88 ।*
10. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,1.1 ।*
11. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,4.11 ।*
12. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,1 वाक्य,19 ।*
13. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,1.10,11 ।*
14. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक,5.9 ।*

2

पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः

सकीना कुमारी सालवी

महर्षि वाल्मीकि के हृदय में काव्य का स्फुरण जिस क्रोञ्च-वध घटना से हुआ, वह देखने में लघ्वी है लेकिन कविमानस को उसने क्षुब्ध कर दिया। वह सात्विक आक्रोश अभिव्यक्ति में उदात्त हो गया। औदात्य के लिए अनुभूति की गहनता, कल्पना की विशदता और प्रभाव की अमिटता आवश्यक है। यदि अनुभूति में द्रुति अथवा दीप्ति नहीं है तब हिमालय को लक्ष्य करके रचित रचना भी तुच्छ होगी। अनुभूति मर्मच्छेदी होने पर तुच्छ कंकड़ भी साक्षात् शंकर इत्यादि देवत्त्व को प्राप्त हो जाता है। चित्त करुणा में अधिक द्रवित होता है। यह सर्वविदित है कि मंगल का विधान करने वाले दो भाव हैं- करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है। अतः साधनावस्था को लेकर चलने वाले काव्यों का बीजभव करुणा ही ठहरता है। कवियों ने करुण के प्रति सदैव अपनी आस्था प्रकट की है। करुण को ही लक्ष्य कर 'शैली' कहते हैं कि ''हमारा मधुरतम संगीत वही है जिसमें करुणा की अधिकाधिक अभिव्यक्ति हो। "Our sweetest song are those that tell our suddest thought."[1] शैली के इस कथन की पुष्टि कविवर पन्त के विचारों में भी होती है-

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
निकलकर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।[2]
होठों पर मुस्कुराहट है नयन से नीर बहता है
हृदय की हूक हँस पड़ती उसे जग गीत कहता है।[3]

आनन्दवर्धनाचार्य ने वाल्मीकि रामायण का प्रधान रस करुण स्वीकार करते हुए उसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया है-

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चन्द्ववियोत्थो शोकः श्लोकत्वमागतः।।[4]

करुण-रस प्रधान रामायण में वाल्मीकि ने अपने पात्रों को ऐसी दिव्य शक्ति से उपकृत कर दिया है जिससे उनकी गति दिनानुदित तीव्रतर होती जा रही है। वाल्मीकि के छोड़े हुए ये उपग्रह प्राणों के अन्तरिक्ष में चिरकाल तक भ्रमण करते रहेंगे। उनकी आर्द्र अनुभूति ने सभी प्राणों को प्राण रस से ओत-प्रोत कर दिया है। ब्रह्मा के बनाये राम का कही पता नही लेकिन आदि कवि के सिरजे राम का घट-घट में वास हो रहा है। राम वैदिक संस्कृति और सभ्यता के आदर्श प्रतीक हैं। मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत जब हम विश्व के महापुरुषों के जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तब राम का जीवन सर्वोपरि ज्ञात होता है। मारीच, रावण से राम के गुणों का वर्णन करते हुए कहता है- **''रामो विग्रहवान् धर्मः''**[5] अर्थात् राम धर्म के मूर्तिमान स्वरूप हैं। सुमित्रा कहती है- **नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथस्थितः''**[6] (राम से बढ़कर सन्मार्ग में स्थिर रहने वाला मनुष्य1 संसार में दूसरा कोई नहीं है।)

उत्तररामचरितम् नाटक महाकवि भवभूति विरचित महत्त्वपूर्ण नाटक है जिसका मूलाधार वाल्मीकि रामायण का उत्तरकाण्ड है। उत्तरकाण्ड में राम के राज्याभिषेक तथा सीता परित्याग के बाद की घटनाओं का वर्णन है। महाकवि भवभूति ने अपने नाटकीय काव्यकौशल प्रतिभा का परिचय देते हुए मूल कथा में कतिपय परिवर्तन किया है। रामायण की कथा दुःखान्त है, किन्तु भवभूति ने भारतीय पद्धति के आधार पर अपने नाटक को सुखान्त बनाया है। महाकवि भवभूति ने अपने उत्तररामचरित नाटक में राम के चरित्र का बहुत सुन्दर चित्रण किया है; जिसे मैंने दो भागों में विभक्त किया है- (1) राजा राम तथा (2) प्रेमी राम।

नाटक का प्रारम्भ राम और सीता के पति-पत्नी के रूप में होता है। प्रथम अंक में राम और सीता के बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। इसी अंक में ऋष्यश्रृंग के आश्रम से अष्टाचक्र दो प्रकार के संदेश लेकर आते हैं- प्रथम वशिष्ठ का आशीर्वचन कि सीता वीर पुत्र को उत्पन्न करेगी **''वीरप्रसवा भूयाः''**[7] तथा अरुन्धती और ननद शान्ता का आदेश कि सीता की दोहद-पूर्ति अवश्य होनी चाहिए। दूसरा संदेश कि प्रजा को प्रसन्न करने में राम तत्पर रहे, उससे

जो यश होगा वही राम का श्रेष्ठ धन है।[8] यह सन्देश सुनकर राजा राम तुरन्त कहते हैं कि प्रजा के अनुरंजन के लिए स्नेह, दया और सुख अथवा सीता को भी छोड़ते हुए मुझे दुःख नही होगा-

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।[9]

किंतु जब धर्म प्राण सम्राट् प्रजा प्रेमी राम गुप्तचर दुर्मुख से अपनी प्रियतमा तथा कीर्तिशाली कौसल साम्राज्य की यशस्विनी साम्राज्ञी सीता के बारे में लांछन की बात सुनते हैं, तब वे अपने हृदय पर पत्थर रखकर सीता का परित्याग हिंसक जानवरों से युक्त गहन कान्तार में कर देते हैं। यद्यपि राम को सीता की पवित्रता के बारे में परमाणु प्रभार भी संदेह नही था क्योंकि सीता की अग्नि परीक्षा लंका में हो चुकी थी तथापि उन्होंने प्रजारंजन के लिये सीता का परित्याग कर दिया। बेहतरीन तो तब होता जब राम भी सीता के साथ अग्नि में प्रवेश कर जाते क्योंकि राम भी तो सीता से वियुक्त हुए थे। विवाह के समय अग्नि को साक्षी रखकर राम आगे आगे चले तथा सीता पीछे पीछे। अग्नि परीक्षा के समय राम अब अग्नि में प्रवेश करके स्वयं की शुद्धि का प्रमाण दे सकते थे जिससे शायद सीता को भी आत्म सन्तोष मिलता। मुझे खेद है धीरोदात्त राजा राम ने शायद मिथ्या एवं सत्य को नही पहचाना, झूठी अफवाह फैलाने वालो जन को दण्ड नहीं दिया, क्यों राम ने सम्राट् का पद त्यागकर सामान्य जनता की तरह अपनी पत्नी के साथ जीवन यापन नही किया। किसी स्री के प्रति इतना बड़ा अन्याय, उसकी सत्ता, उसकी अस्मिता, उसके जीवन जीने के ढंग, उसके वैवाहिक जीवन को बाधित करना स्पष्टतः तद्‌युगीन व्यवस्था के अनुसार धर्मोल्लंघन है तथा आधुनिक चिन्तकों की शब्दावली में मानवाधिकार का स्पष्टतः उल्लंघन है। सीता ने भी अपने विरुद्ध किये गये पति के दुष्कर्म की सुनवाई तक नहीं की, क्योंकि राम के राज्याभिषेक के बाद सीता अब राम की पत्नी ही नही अपितु सम्पूर्ण राज्य की रानी थी। लोक भाव से कतराकर वह अब केवल राम के लिये ही जिन्दा नहीं रह सकती थी। राजमहिषी के रूप में सीता का जीवन अपने साम्राज्य के विशालतर जीवन की आशा आकांक्षा का स्वभावतः ही अंगभूत हो चला था।

सीता के जीवन से सम्बन्धित समस्त सुखों की होली जलाने वाले

धीरोदात्त राम जब पंचवटी में एक सामान्य व्यक्ति की तरह विलाप करते हैं। विलाप करेंगे क्यो नही? क्योंकि सी ही प्रकृति है और उसका अभाव ही विकृति है। स्त्री विहीन पुरुष के लिए जगत् सूखे जंगल के समान है जाता है। दिव्य शक्ति सम्पन्ना अदृश्य रूपा सती साध्वी सीता अपने पति के विलाप के सहन नही कर सकी। इतना सब कुछ करने के बाद भी सीता के हृदय में राम के प्रति श्रद्धा और सम्मान की जो सरिता प्रवाहित होती है, जो पुण्यभाव का महासागर उद्वेलित होता है। उसका दर्शन हमें अपनी सखी से वार्ता करती हुई सीता के कथन से ज्ञात होता है-

''अच्छा, उनके ऊपर नाराज होऊँगी, यदि उन्हें देखकर अपने आपके वश में रख सकी तो।'' **(भवतु! अस्मै कोपयिष्यामि यदि तं प्रक्षमाणा आत्मनः प्रभविष्यामि)''।**[10] धन्य है इस तरह का दाम्पत्य प्रेम जो एक दूसरे के समानान्तर चलता है। इस तरह के प्रेम को निभाने का कार्य मेरे ख्याल से विधाता की सृष्टि में राम और सीता ही कर सकते हैं अन्य कोई सामान्य प्राणी नही। ऐसा प्रेम जगत् में अब कहाँ है? स्वामी तथा सभी प्राणियों के कल्याण में, आत्म-बलिदान करने वाला प्रेम क्या इस जगत् में है? इस तरह के प्रेम को सर्वप्रथम महाकवि भवभूति ने पहचाना था, जिस प्रेम की गाथा पाश्चात्य महाकवि ब्राउनिंग ने गाई थी- **तुमने तो मुझे खो दिया किन्तु मैंने तुम्हें पा लिया।** इतना ही नही परित्याग रूप अपमान के कड़वे घूँट पीने वाली सीता अपने पति की निन्दा को सहन नहीं कर सकती थी। जब वासन्ती सीता को निर्वासित करने वालों राम को उपालम्भ देने लगती है तब वह सीता वासन्ती को ही कठोर हृदया वचनों से उलाहना देती है- **''त्वमेव सखि वासन्ति दारुणा कठोरा च यैवं प्रलपन्तं प्रलापयसि।''**[11] ऐसा प्रेम जहाँ पर आत्मसुख का तनिक भी ध्यान नहीं है तथा अपने अपमान को भूलकर केवल प्रिय के सुख का ही ध्यान रखा है। मर्त्यभूमि पर ऐसा प्रेम विरले पुरुषों को ही प्राप्त होता है। जैसा कि महाकवि भवभूति ने स्वयं ही कहा है- **''भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।''**[12] इस तरह सीता की जीवनगाथा को सुनकर शरीर पुलकित को उठता है तथा छाती फूल जाती है कि मेरे देश में एक कवि ने सतीत्व के इस तेज, आत्माभिमान और महत्व की कल्पना की थी। प्रेम की ऐसी अशरीरिणी विशुद्धि ओर आध्यात्मिकता की कल्पना महाकवि ने अपने काव्य में की है।

यद्यपि इस पतिपरायणा के मन में परित्याग रूप महा अपमान से क्रोध का ज्वालामुखी न फूटा होगा ऐसा सोचना मानव की स्वाभाविक वृत्तियों का निषेध

करना है। वास्तव में कोई अलोकिक चरित्र मानव ही सीता की परिस्थिति में रहकर अपने भीतर और बाहर से संतुष्ट बैठा रह सकता है। राम की कठोरता के परिणामस्वरूप राजसी वैभव का त्याग, अपने पुत्रों के पार्थक्य का दुःख सीता ने सहन किया। लव कुश से दूर रहकर जीवन व्यतीत करना सीता के अपरिमित धैर्य और साहस का परिचय देता है। किन्तु इस जीवन की बाध्यता उन्हें सदा राम की कठोरता और अकारण दण्ड का ध्यान दिलाती थी। इस दुःख से वे सदा ही विषादयुक्त रहती थी-**''ईदृश्यस्मि मन्दभागिनी यस्याः न केवलंनिःसह आर्यपुत्रविरह, विरहोऽपि।''**[13] अग्नि परीक्षा की कठोरता तथा परित्याग रूप अपमान को सहन करने वाली सीता पंचवटी में विलाप करते हुए राम के मुख से स्वयं के नाम को सुनकर अपने आपको धन्य मानती है तथा उसके अन्तर्मन में संताप एवं अधिक्षेप रूपी वेदना की जो सघन परतें वर्षों से जमी हुई थी वे अब जड़ सहित उखड़ जाती है- **''जाते प्रत्ययेन निष्कारणपरित्यागशल्यितोऽपि बहुमतो मम जन्मलाभः।''**[14] यद्यपि राजा राम सीता का निर्वासन कर देता है लेकिन प्रेमी राम निरन्तर अन्तर्द्वन्द्व की पीड़ा से जूझता रहता है। परित्याग एवं आसक्ति (सीता विषयक) की दोहरी गाँठ से बँधा हुआ राम का कारुणिक चित्र प्रसंगानुसार उभरता हुआ दिखाई देता है। राम की स्थिति पुटपाक सदृश है। पुटपाक आयुर्वेद का पारिभाषिक शब्द है। इस विधि में जिस वस्तु का सत्त्व निकालना होता है उसे मिट्टी आदि किसी पात्र में रखकर उसका मुख बन्द कर देते हैं। इसके बाद इस पात्र को उपलों की आग में रख दिया जाता है और पात्र के भीतर रखा वह धातु गर्मी पाकर भीतर ही भीतर पिघलने लगता है कुछ समय बाद पक जाने पर यह औषधि का रूप ले लेता है। यद्यपि यह प्रक्रिया हमें दिखाई नहीं देती तथापि हम अनुमान कर लेते हैं। ठीक इसी प्रकार राम की स्थिति है। प्रेमी राम मन ही मन सीता के वियोग से दुःखी है। पुटपाक विधि के समान वह अन्दर से पिघल रहा है लेकिन बाहर से राजा राम गम्भीर बना रहता है-

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः।।[15]

शोकाकुल प्रेमी राम वन देवी वासन्ती से सीता के विनाश का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसका कोमल शरीर हिंसक जन्तुओं के द्वारा निश्चित ही नष्ट कर दिया गया होगा-

त्रस्तैकहायनकुरंगविलोलदृष्टे स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः।
ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा क्रव्याद्भिरंगलतिका नियतं विलुप्ता।।[16]

इस तरह राम वासन्ती से वार्तालाप करते हुए रो उठते हैं किन्तु प्रेमी राम को रोने का अधिकार अब कहाँ? यद्यपि राजा राम लोकैषणा और दारैषणा को कुछ सीमा तक दमित करते हुए प्रतीत होते हैं किन्तु वह अर्द्ध-चैतन्य स्तर तक ही है। इस तरह निरुपाय, भीतर से पूर्णतया अशक्त राम का प्रलाप निरन्तर चलता है। लोक मर्यादा के लिए राजा राम ने सीता का परित्याग तो कर दिया किन्तु बाद में मर्यादा के प्रति कुण्ठितभावापन्न दिखाई देने लगे। साथ-ही-साथ महाकवि भवभूति ने नगरवासियों को निर्दयी तक कह दिया तथा राम के द्वारा शीघ्रतापूर्वक सीता परित्याग को भी उचित नहीं समझा- **अहो निर्दयता दुरात्मनां पौराणाम्। अहो रामस्य राज्ञः क्षिप्रकारिता।।**[17] आखिर कब तक पुटपाक राम अपने आपको बचाते रहेंगे? उनके अन्तर्द्वन्द्व की घनी व्यथा अन्दर ही अन्दर दुःखित करती हुई खलबली मचा रही है जिसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर भी निश्चित रूप से दिखाई देता है क्योंकि चन्द्रकेतु जैसा अल्पायु व्यक्ति भी राम के अस्तित्वविपन्न, वेदनामय एवं क्लान्त रूप की ओर संकेत कर उठता है- **अप्रतिष्ठे कुलज्येष्ठे का प्रतिष्ठा कुलस्य न**? **इति दुःखे तप्यन्ते त्रयो नः पितरोऽपरे।।**[18] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महाकवि भवभूति ने अपनी अद्भुत कृति उत्तररामचरित नाटक में जिस नायक का चरित्र चित्रित किया है वह है राजाराम तथा प्रेमी राम। यह निर्विवाद सिद्ध है कि जब धर्म से धर्म की टक्कर होती है तब बड़े धर्म को अपना लेना चाहिए। शायद इसीलिए राजा राम ने प्रजानुरंजन रूपी श्रेष्ठ धर्म को अपना लिया किन्तु प्रेमी राम निर्दोष सीता की वेदना से आहत दिखाई देता है।

संदर्भ :

1. *To Skylark : Shelly*
2. *पल्लवः सुमित्रानन्दन पन्त*
3. *सुमित्रानन्दन पन्त*
4. *ध्वन्यालोक 1/5*
5. *उत्तररामचरितम् 2/9 के बाद, पृ0 153*
6. *वाल्मीकि रामायण 2/44/06*

7. *उत्तररामचरितम् 1/9 के बाद पृष्ठ 30*
8. *वही, 1/11*
9. *वही, 1/12*
10. *उत्तररामचरितम्, 1/51 के बाद पृष्ठ 116*
11. *वही, तृतीय अंक, 3/27 के बाद पृष्ठ 244*
12. *उत्तररामचरितम्, 1/39*
13. *उत्तररामचरितम्, 3/16 बाद पृष्ठ 222*
14. *उत्तररामचरितम्, तृतीय अंक, पृष्ठ 314*
15. *उत्तररामचरितम्, 3/1*
16. *उत्तररामचरितम्, 3/28*
17. *उत्तररामचरितम्, 4/23 के बाद पृष्ठ 348*
18. *उत्तररामचरितम्, 1/12*

3

मुद्राराक्षस में औचित्य-विमर्श

रवीन्द्र कुमार पंथ

महाकवि विशाखदत्तप्रणीत 'मुद्राराक्षस' संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है। वीर रस प्रधान इस नाटक मे इतिहास एवं राजनीतिशास्त्र का सुन्दरसमन्वय प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही साथ कवि ने प्रमुख अलंकारशास्त्र में मान्य विभिन्न तत्त्वों का यथावसर प्रयोग करके काव्य को और अधिक हृदयाह्लादक बना दिया है। उन्हीं तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व है- 'औचित्य'। काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' में रस सिद्ध काव्य का जीवित या आत्मभूत तत्त्व 'औचित्य' को स्वीकार करके एक नये सिद्धान्त की स्थापना की है; जिसे 'औचित्य सम्प्रदाय' के नाम से जाना जाता है। यद्यपि 'औचित्य सम्प्रदाय' की स्थापना का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को भले ही प्राप्त है किन्तु इनसे पूर्व 'नाट्यशास्त्र' के आदिम आचार्यभरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में औचित्य के बीजवपन का कार्य पहले ही कर दिया था। आचार्य भरत मुनि ने प्रत्यक्ष रूप से औचित्य का नाम न लेते हुए भी नाट्यांगों के मध्य अनुकूलता एवं अनुरूपता पर बल दिया है; जिसमें आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य का बीज निहित है -

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेशो वेशानुरूपश्चगतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।।[1]

अर्थात् वय के अनुरूप वेश, वेश के अनुरूप गति, गति के अनुरूप पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय का कार्य होना चाहिए। इस प्रकार भरतमुनि के औचित्य विषयक चिन्तन में स्वाभाविकता की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

इसी प्रकार आचार्य भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने भी प्रकारान्तर रूप से औचित्य तत्त्व का उल्लेख किया है। किन्तु निर्विवाद रूप से औचित्य सम्प्रदाय की स्थापना आचार्य क्षेमेन्द्र ने ही किया है। उन्होंने औचित्य को ही काव्य का जीवित तत्त्व स्वीकार किया है-

काव्यस्यालमलङ्कारैः किंमिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यंविचिन्त्यापि न दृश्यते।।
अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यंरससिद्धस्य स्थिरंकाव्यस्य जीवितम्।।[2]

औचित्य के अभाव में गुण या अलंकार कोई भी काव्य को सुन्दर नहीं बना सकता। जिस काव्य में विचार करने के परिणाम स्वरूप औचित्य का दिग्दर्शन न होतो उस काव्य में गुण या अलंकार दोनों ही व्यर्थ या निष्प्रयोजन सिद्ध होते हैं। अलंकारतो काव्य के बाह्य शोभा धायक धर्म होते हैं, उनमें इतनी क्षमता नहीं है कि वे काव्य को प्राणवान् बना सकें। इसी प्रकार काव्य में पाये जाने वाले गुण भी उसके अनित्य धर्म हैं; किन्तु काव्य का स्थिर एवं अविनश्वर तत्त्व औचित्य ही है जो उसका प्राण या आत्मा होने योग्य है; क्योंकि औचित्य से रहित अलंकार एवं गुण युक्त काव्य निष्प्राण हो जाता है। उन्होंने औचित्य के विषय में लिखा है-

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशंकिल यस्य यत्।
उचितस्य च योभावस्तदौचित्यंप्रचक्षते।।[3]

अर्थात् आचार्यों ने कहा है कि जो जिसके अनुरूप है, सदृश्य है, वह उसके लिए उचित है और इसी उचित का भाव ही औचित्य है। आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य की व्याप्ति पद से लेकर प्रबन्ध तक है। इसीलिए उन्होंने औचित्य के भेदों का निर्धारण करते हुए काव्य के सूक्ष्म अवयवों से लेकर इसके विशालतम रूपको ध्यान में रखा है। उन्होंने औचित्य के 27 भेद स्वीकार किया है-

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थेगुणेऽलंकरणेरसे। क्रियायांकारके लिङ्गे वचने च विशेषणे।।
उपसर्गेनिपाते च कालेदेशेकुलेव्रते। तत्त्वेसत्त्वेऽप्यभिप्रायेस्वभावे सारसङ्ग्रहे।।
प्रतिभायामवस्थायांविचारेनाम्न्यथाशिषि। काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यंव्यापिजीवितम्।।[4]

अर्थात् (1) पद, (2) वाक्य, (3) प्रबन्धार्थ, (4) गुण, (5) अलंकार, (6) रस, (7) क्रिया, (8) कारक, (9) लिंग, (10) वचन, (11) विशेषण, (12) उपसर्ग, (13) निपात, (14) काल, (15) देश, (16) कुल, (17) व्रत,

(18) तत्त्व, (19) सत्त्व, (20) अभिप्राय, (21) स्वभाव, (22) सारसंग्रह, (23) प्रतिभा, (24) अवस्था, (25) विचार, (26) नाम तथा (27) आशीर्वाद काव्य के विविध अंगों में औचित्य के भेद हैं। औचित्य के इन भेदों का वर्णन महाकवि विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में सम्यक् प्रकार से किया है। मुद्राराक्षस में प्रयुक्त औचित्य के कुछ प्रमुख भेदों का निर्देश अग्रवर्णित है-

पदौचित्य-

जहाँ पर किसी पद के सम्यक् प्रयोग से काव्य-सौन्दर्य की अभि वृद्धि होतो वहाँ पर पदौचित्य होताहै। आचार्य क्षेमेन्द्र ने पदौचित्य की महत्ता का वर्णन करते हुए लिखा है-

तिलकं विभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम्। चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चान्दनम्।।[5]

अर्थात् एक ही उचित पद को धारण करती हुई सूक्ति कस्तूरी धारण की हुई चन्द्रानना तथा चन्दन चर्चित श्यामा के समान सुशोभित होती है। कवि विशाखदत्त ने मुद्रा राक्षस के चतुर्थ अंक में पदगत औचित्य का सुन्दर प्रयोग किया है-

दूरे प्रत्यासत्तिर्दर्शनमपि दुर्लभमधन्यैः।।
कल्याणकुलधराणां देवानाञ्च मनुष्यदेवानाम्।।[6]

उपर्युक्त श्लोक में पदों का यथावसर प्रयोग होने के कारण पदौचित्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। 'कल्याणकुलधराणाम्' यहाँ परस्वर्णमय सुमेरु पर्वत के औचित्य का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार 'मनुष्यदेवानाम्' पद में राजाओं के भाव को दर्शाता है।अतः इनमें पदौचित्य है। इसीप्रकार 'अधन्यैः' पद का प्रयोग भाग्यहीनता के औचित्य की दृष्टि से किया गया है। अतः यहाँ पर भी पदौचित्य है।

वाक्यौचित्य-

जब किसी वाक्य के उचित प्रयोग से काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है तब वहाँ पर वाक्यौचित्य होता है। वाक्यौचित्य के विषय में क्षेमेन्द्र ने कहा है-

औचित्यरचितं वाक्यं सततं संमतं सताम्।
त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं शीलोज्ज्वलमिवश्रुतम्।।[7]

अर्थात् औचित्य से निर्मित वाक्य, त्याग से उन्नत के समान तथा शील से उज्ज्वल प्रसिद्धि के समान विद्वानों में निरन्तर प्रशंसनीय होता है। 'मुद्राराक्षस में प्रयुक्त वाक्यौचित्य का निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है-

स्वस्मिन् परिहृतमयशः पातितमस्मासु घातितोऽर्धराज्यहरः।
एकमपि नीतिबीजं बहुफलतामेति यस्य तव।।[8]

अर्थात् तुम्हारी राजनीति का एक ही बीज भिन्न प्रकार के फलों को दे रहा है। इस वाक्य में आचार्य चाणक्य के कुशल राजनीतिज्ञ होनें का भाव प्रस्फुटित हो रहा है। जिसके कारण यह वाक्यौचित्य का ही एक श्रेष्ठ उदाहरण है; क्योंकि यहाँ पर अनेक पदों का समूह व्याप्त होकर राजनीतिज्ञ भाव को दर्शाता रहा है।

गुणौचित्य-

जहाँ पर अर्थ एवं भावों के अनुरूप माधुर्य आदि गुणों का सम्यक् प्रयोगकाव्य में सौन्दर्य की सृष्टि करता है, वहाँ परगुणौ चित्य होता है। क्षेमेन्द्र के अनुसार-

प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान्गुणः।
स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं संभोगावसरोदितः।।[9]

अर्थात् प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप ओजप्रसाद आदि गुण काव्य में उसी प्रकार सुन्दर तथा चरितार्थ हो कर आनन्द को प्रवाहित करते हैं, जैसे रति क्रीडा के अवसर पर उदित चन्द्रमा आनन्द को प्रवाहित करता है। वीर रस प्रधान नाटक होने के कारण मुद्राराक्षस में ओजगुण होना स्वाभाविक ही है। मुद्राराक्षस के द्वितीय अंक में ओजगुण का हृदयाह्लाद उदाहरण द्रष्टव्य है-

अथ जघनाभिघातमुत्प्रेक्षमाणा गजवधूरतिजवनतया गत्यन्तरमारूढवती। ततः प्रथमगत्यनुरोधप्रत्याकलितमुक्तेनप्रभ्रश्टलक्ष्यं पतता यन्त्रतोरणेनाकृष्टकृपाणी व्यग्र- पाणिरनासादयन्नेवचन्द्रगुप्तप्रत्याशयावैरोचकं, दारुवर्मणाहतस्तपस्वी वर्वरकः। ततो दारुवर्मणा, यन्त्रतोरणनिपात- नादात्मवधमाकलय्य शीघ्रमेवोत्तुङ्गतारणस्थान- मारूढेन यन्त्रघट्टनबीजलोहकीलमा- दाय हस्तिनीगत एव हतस्तपस्वी वैरोचकः।[10]

राक्षस के प्रति विराध गुप्त का यह कथन ओजगुण की सुन्दरता का जीता-जागता उदाहरण है।

अलंकारौचित्य-

जहाँ पर अलंकारों के सम्यक् प्रयोग से कोई वस्तु, भाव या विचार विशेष प्रभाव से सम्पन्न या चमत्कार पूर्ण हो जाता है, वहाँ पर अलंकारौचित्य होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अलंकारौचित्य के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है -

अर्थौचित्यवता सूक्तिरलङ्कारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेणहरिणेक्षणा।।[11]

अर्थात् अर्थगत औचित्य से अनुप्राणित अलंकार से सूक्ति उसी तरह सुशोभित होती है जैसे उतुंगपयोधर पर स्थित हार से मृगलोचना सुन्दरी। मुद्राराक्षस में कवि ने अलंकारौचित्य का प्रयोग बड़ी सहजता के साथ किया है। अलंकारौचित्य का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है-

अन्तः शरीर परिशोशमुपाश्रयन्तः कीटक्षतिश्रुतिभिःरस्रमिवोद्वन्तः।
छायावियोगमसिनाव्यसनेनिमग्ना वृक्षाः श्मशानमुपगन्तुमिवप्रवृत्ताः।।[12]

अर्थात् इस जीर्णोद्यान में तपस्वी के समान अन्दर से सूखते हुए, कीटों के द्वारा छेद किये जाने से निरन्तर बहते हुए द्रव के रूप में मानों आँसू टपकाते हुए छाया रहित मानों प्रिय विरह से दुःख मग्न वृक्ष ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे वे श्मसान को जाने की तैयारी कर चुके हों। यहाँ पर महाकवि विशाखदत्तजी ने उत्प्रक्षा की छटा बड़े ही कमनीय ढंग से प्रस्तुत किया है। अतः इसमें उत्प्रेक्षा अलंकारौचित्य दृष्टि गोचर होता है।

रसौचित्य-

रसौचित्य का तात्पर्य है- काव्य में रस का औचित्य पूर्ण प्रयोग। अर्थात् जहाँ पर किसी रस-विशेष के कारण काव्य में रमणीयता एवं प्रभावोत्पादकता आती है, तो वहाँ पर रसौचित्य होता है। औचित्यविचार चर्चाकार क्षेमेन्द्र ने रसौचित्य की महत्ता के सम्बन्ध में कहा है-

''औचित्येन भ्राजिष्णुः शृङ्गारादिलक्षणोरसः सकलजनहृदयव्यापीवसन्त इवाशोकमङ्कुरितं मनः करोति''।[13]

अर्थात् अनुरूप कथन से सुशोभित, सम्पूर्णजनमानसव्यापी शृंगार, वीर आदि रस सहृदयों के चित्त में उसी प्रकार नवनवोन्मेष उत्पन्न कर देता है जैसे वसन्त ऋतु अशोक वृक्ष की टहनियों में नये-नये अंकुर प्रस्फुटित करता है। मुद्राराक्षस में हृदयाह्लादक रसौचित्य का एक उदाहरण सर्वथा दर्शनीय है-

संरम्भस्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयाऽपि
भ्रूभङ्गोद्भेदधूमंज्वलितमिव पुनः पिङ्गया नेत्रभासा।
मन्ये रुद्रस्य रौद्ररसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्या
सञ्जातोदग्रकम्पं कथमपिधरया धारितः पादघातः।।[14]

यहाँ पर रौद्र रसौचित्य की अभिव्यक्ति आचार्य चाणक्य के व्यवहार एवं क्रिया-कलाप के चित्रण में होती है। राजा की बातों से उत्पन्न आचार्य चाणक्य का क्रोध स्थायीभाव है। यहाँ पर आचार्य चाणक्य आल्म्बन विभाव तथा चन्द्रगुप्त की बात उद्दीपन विभाव है। आचार्य का पृथ्वी पर पैर पटकना, वाणी बोलना आदि अनुभाव है एवं कम्पित पलक-ओठ, लाल-लाल नेत्रों की कान्ति आदि व्यभिचारी भाव है। इस प्रकार यहाँ पर रौद्ररस की अभिव्यक्ति होने के कारण रसौचित्य है।

विशेषणौचित्य-

काव्य में विशेष्यभूत अर्थ उचित विशेषणों से उसी प्रकार शोभा को प्राप्त होता है जैसे गुणवान् सज्जन अधिक गुणशाली मित्रों के साथ सुशोभित होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने विशेष णौचित्य के सन्दर्भ में लिखा है-

विशेषणैः समुचितैर्विशेष्योऽर्थः प्रकाशते।
गुणाधिकैर्गुणोदारः सुहृद्भिरिव सज्जनः।।[15]

अर्थात् अत्यन्त गुणशाली मित्रों से युक्त, दया, दाक्षिण्य आदि गुणों के कारण उदार सज्जन व्यक्ति के तुल्य योग्य विशेषणों से युक्त विशेष्यभूत अर्थ प्रकाशित होता है। महाकवि विशाखदत्त ने काव्य को चमत्कारपूर्ण बनाने के उद्देश्य से विशेषणौचित्य का भी विशेष ध्यान रखा है। उदाहरण स्वरूप मुद्राराक्षस के प्रथम अंक में ही आचार्य चाणक्य के कथन में विशेणौचित्य का दर्शनीय है। जहाँ पर पाँच प्रमुख राजाओं के विशेषणों से ही विशेष्य भूत अर्थ प्रकाशित हो जाता है-

कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनरपतिः सिंहनादो नृसिंहः
काश्मीरः पुष्कराक्षः क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः।
मेघाक्षः पञ्चमोऽस्मिन् पृथुतुरगबलः पारसीकाधिराजो
नामान्येषां लिखामि ध्रुवमहमधुनाचित्रगुप्तः प्रमार्ष्टुः।।[16]

अर्थात् कुलूत देश के राजाचित्रवर्मा, मलयनरपतिवीरवरसिंहनाद, कश्मीर देशाधिपति पुष्कराक्ष, शत्रुओं की महिमा का नाश करने वाले सिन्धुराज सिन्धुषेण तथा पाँचवे विशाल अश्वसैन्य वाले फारस के मघाक्ष नाम के राजा, जिनके नाम मैं इस पत्र पर अंकित कर रहा हूँ, निःसन्देह उन्हें चित्रगुप्त मिटा देंगे। यहाँ पर विशेषणौचित्य की प्रतीति स्पष्ट रूप से हो रही है।

आभिप्रायौचित्य-

अत्यन्त सरलता से अभिप्राय को व्यक्त करने वाला काव्य हृदय को उसी प्रकार आकृष्ट करता है जैसे सज्जनों का निर्मल सरल व्यवहार। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार चर्चा में आभिप्रायौचित्य के विशय में कहा है-

अकदर्थनयासूक्तमभिप्रायसमर्थकम्।
चित्तमावर्जयत्येव सतां स्वस्थमिवार्जवम्।।[17]

अर्थात् क्लेश रहित अभिप्राय को अभिव्यक्त करने में समर्थ या अत्यन्त सरलता से अर्थाव बोध कराने के योग्य सत्काव्य, निर्मल विनम्रता की तरह, सज्जनों के हृदय को अवश्य आकृष्ट करता है। मुद्रा राक्षस के सप्तम अंक का निम्न उदाहरण अभिप्राय औचित्य को दर्शाता है-

भवति पुरुषस्य व्याधिर्मरणं वा सेविते अपथ्येऽपि।
राजापथ्येपुनः सेविते हि सकलमपि कुलं म्रियते।।[18]

अर्थात् अपथ्य (अहितकर वस्तु) का सेवन करने से तो मनुष्य को रोग अथवा उसकी मृत्यु ही होती है; किन्तु राजद्रोह करने पर सम्पूर्ण कुल श्वास हो जाता है। यहाँ कवि का अभिप्राय है कि किसी भी विषम परिस्थिति में राजद्रोह नहीं करना चाहिए।

नामौचित्य-

जहाँ पर कर्म तथा गुणों के अनुरूप पात्रों के नामकरण से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न हो वहाँ पर नामौचित्य होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने कर्मानुसार तथा गुण-दोषों के अनुरूपनामौचित्य की सार्थकता के विषय में कहा है-

नाम्ना कर्मानुरूपेण ज्ञायतेगुणदोषयोः।
काव्यस्य पुरुषस्येव व्यक्तिः संवादपातिनी।।[19]

अर्थात् जैसे कार्य के अनुरूप नाम से पुरुषों के गुण-दोषों की अभिव्यक्ति हो जाती है; उसी तरह कर्म के अनुरूप नाम के प्रयोग से काव्य के गुण दोषों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। विशाखदत्त ने पात्रों के नामकरण में नामौचित्य का विशेष ध्यान रखा है। जैसे-विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' नाटक नामौचित्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। मन्त्री राक्षस का गुप्तचर 'अहितुण्डिक'[20] इसका प्रमुख उदाहरण है। अहि का अर्थ होता है सर्प, एवं तुण्ड का अर्थ है मुख ।

आशीर्वादौचित्य-

नामौचित्य की विवेचना के अनन्तर आशीर्वादौचित्य की विवेचना करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है-

पूर्णार्थदातुः काव्यस्य सन्तोषितमनीषिणः।
उचित शीर्नृपस्येव भवत्यभ्युदयावहा।।[21]

अर्थात् जैसे पर्याप्त धन देकर विद्वानों को सन्तुष्ट करने वाले राजा के प्रति प्रयुक्त आशीर्वचन मंगलकारक होता है; उसी प्रकार निराकांक्ष अर्थ का ज्ञान कराकर विद्वानों को पूणतः सन्तुष्ट करने वाले काव्य का आशीर्वचन कल्याण कारक होता है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार ग्रन्थारम्भ में नान्दीपाठ एवं उसके अन्त में आशीर्वादात्मक संगीत अथवा प्रशस्ति पढ़ने की प्राचीन परम्परा रही है। इसी परम्परा का निर्वहन करते हुए महाकवि विशाखदत्त ने भी आशीर्वादौचित्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है-

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगताशिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वीज्यमाना भुजयुगमधुनापीवरं राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतुमहींपार्थिवश्चन्द्रगुप्तः।।[22]

अर्थात् पहले प्रलय काल तक व्याप्त पृथ्वी ने विपुलवती अनुरूपवाराही देह धारण किये हुए जिस स्वयम्भू भवगवान् विष्णु के दन्ताग्र भाग पर आश्रय ग्रहण किया, अब म्लेच्छों से उत्पीड़ित धरा ने सम्राट् चन्द्रगुप्त के भुज-युगल में आश्रय लिया है। श्री सम्पन्न बान्धवों तथा सेवकों से युक्त सम्राट् चन्द्रगुप्त चिरकाल तक रक्षा करें। इस प्रकार यहाँ पर आशीर्वचनौचित्य की प्रतीति स्पष्ट रूप से हो रही है। इसी प्रकार महाकवि विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में शेष अन्य औचित्यों का प्रतिपादन बड़ी ही सहजता एवं सरलता के साथ किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवि विशाखदत्त ने अपने नाट्यग्रन्थ 'मुद्राराक्षस' में आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित अधिकांश औचित्य की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उनकी इस अभिव्यक्ति का संस्कृत नाट्यपरम्परा में सुहृज्जनों के द्वारा चिरकाल तक आस्वादन होता रहेगा।

सन्दर्भ-

1. *नादशास्त्र, 13/64*
2. *औचित्यविचारचर्चा, 4-5*
3. *औचित्यविचारचर्चा, 7*
3. *वही, 8-10*
4. *औचित्यविचारचर्चा, 11*
5. *मुद्राराक्षस, 4/4*
6. *औचित्यविचारचर्चा, 12*
7. *मुद्राराक्षस,2/19*
8. *औचित्यविचारचर्चा, 14*
9. *मुद्राराक्षस, 2/15, गद्यभाग।*
10. *औचित्यविचारचर्चा, 15*
11. *मुद्राराक्षस, 6/13*
12. *औचित्यविचारचर्चा, 16, वृत्तिभाग*
13. *मुद्राराक्षस, 3/30*
14. *औचित्यविचारचर्चा, 23*
15. *मुद्राराक्षस, 1/20*
16. *औचित्यविचारचर्चा, 32*
17. *मुद्राराक्षस, 7/2*
18. *औचित्यविचारचर्चा, 38*
19. *मुद्राराक्षस, अंक-2*
20. *औचित्यविचारचर्चा, 39*
21. *मुद्राराक्षस, 7/19*

4

सिद्धेश्वर चट्टोपाध्याय कृत ननाविताडन

सान्तनु प्रधान

सिद्धेश्वर चटर्जी का जन्म 27 फरवरी 1918 को अविभाजित देश तथा बांग्लादेश के जसोर में हुआ था। वह उन्नीसवीं सदी के कई कवियों या नाट्यकारों में से अन्यतम थे। उन्हें 'बुडोदा' के नाम से जाना जाता था। रंगमंच की दुनिया में उनका योगदान निर्विवाद है। समकालीन विषयों पर चार संस्कृत नाटकों की रचना करके उन्होंने संस्कृत कविता की दुनिया में एक नए क्षितिज का मार्ग प्रशस्त किया है। 'ननाबिताडन' उनमें से अन्यतम हैं। 1974 में यह व्यंग्य नाटक संस्कृत साहित्य पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। ननाविताडन आधुनिक नाटकों में से एक है।

ये नाटक पारंपरिक रूप से लिखे गए संस्कृत काव्य नाटकों से बिल्कुल अलग शैली में लिखे गए हैं। नाटक की शुरुआत में नान्दी पूरी तरह से वाक्यों से रहित है। नाटक में दृश्यों या संख्याओं का कोई विभाजन नहीं है।

प्राकृत भाषा को पूरी तरह से बाहर रखा गया है। प्राकृत भाषा दर्शकों के लिए बहुत कठिन विषय लगती थी। नाटक में संगीत का समावेश आधुनिक नाटक की पहचान है। नाट्यकार इस संगीत के साथ अगले विषय का परिचय देता था। बंगाली ध्वन्यात्मक शब्दों को नाटकों में खूबसूरती से संस्कृत किया गया है, सिद्धेश्वर चट्टोपाध्याय के नाटकों में कई नवगठित शब्द पाए जाते हैं। अर्थात् - शून्यगणितिका यानी राशन की थैली, कॉस्मेटिक बैग यानी वैनिटी बैग आदि। साथ ही यहां चापात्रम्, काफिचुर्न, गुंचिका आदि शब्द मिलते हैं। लेकिन अगर आधुनिक नाटक का कोई संकेत नहीं है, तो यह पूरी तरह से अलग आड़ में लिखा गया है। ननाविताडन नाटक में नाटककार ने इन कारकों का पूरी तरह से पालन किया है।

संस्कृत साहित्य में काव्य को दो भागों में बांटा गया है, श्रवण और दृश्य। दृश्यों को फिर से रूपक कहा जाता है। ये अलंकारिक नाटक दश प्रकार के नानाबिताडन हैं, जो जन्म नाटक हैं। हास्य यहाँ प्रमुख है। 'ननाबिताडन' यहाँ 'नना' का अर्थ है माँ का विठदान अर्थात संस्कृत में विठदान। माँ सभी भाषाओं की जननी है, अर्थात संस्कृत भाषा। 1974 में, यह संस्कृत व्यंग्य नाटक परिषद् पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। नाट्यकार ने दिखाया है कि कैसे संस्कृत भाषी समाज में इस नाटक की उपेक्षा की जा रही है। नाट्यकार ने यहां तीन पात्रों वसुकुंभ, स्वकुंभ और पंडित को शिक्षकों के रूप में उल्लेख किया है। ये तीन विशेषज्ञ कुछ बंगाली भाषा के पक्ष में हैं, कुछ हिंदी भाषा के पक्ष में हैं, कुछ ने अंग्रेजी भाषा के पक्ष में राय दी है। नाट्यकार ने इन तीनों शिक्षाविदों पर तीखा प्रहार किया। किसी भी तरह से संस्कृत भाषा को पढ़ना बंद कर देना चाहिए। और इस भाषा को मृत घोषित कर देना चाहिए। संस्कृत में मृत्यु नाम की कोई चीज नहीं होती। नाटक का विषय संक्षेप में पुरयी का कहना है कि नानादेवी को यहां होश नहीं आया है, जिस पर उत्तरा कहती है कि व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि वह हमेशा की तरह होश में न आए। उसके बाद सभी ने नना को मृत घोषित कर दिया। कुम्भिरा रोने लगी। तब तीन विशेशुंचु अर्थात वसुकुंभ, स्वकुंभ और पंडित वहां प्रकट हुए। वसुकुंभ का कहना है कि शव को संग्रहालय में रखने से भविष्य में लोगों को खुशी मिलेगी। स्वकुंभ कहते हैं कि प्रसन्नता के कारण को छोड देना भी शोध के लिए उपयोगी होगा। नना की स्मृति को संरक्षित करने के लिए एक मठ की स्थापना की जानी चाहिए या एक शोध संस्थान की स्थापना की जानी चाहिए ताकि भविष्य में नना पर शोध किया जा सके। इस प्रकार संस्कृत भाषा का अपमान शुरू हुआ और आज भाषा को एक गैर- कार्यात्मक, आनंद-प्राप्त वस्तु के रूप में दिखाया गया है। ननाविताडन यह नाटक हास्यास्पद है। हास्य दस प्रकार के रूपक में से एक है। हास्य यहाँ कुंजी है। 'ननाविताडन' इस नाटक में नाटककार नाटक के आरंभ में मंगलाचरण ना कहकर नाटक की शुरुआत करता है। सूत्रकर ने बीच-बीच में नाटक में प्रवेश किया। जो किसी अन्य नाटक में देखने को नहीं मिलता। नाटक में प्राकृत भाषा की पूर्ण अस्वीकृति को दर्शाया गया है। संगीत को जोडना इस नाटक की एक और विशेषता है। जो लगभग आधुनिक नाटक में देखने को मिलता है।

अगला विषय संगीत की रचना द्वारा प्रस्तुत किया गया है। नाटककार ने इस नाटक में संस्कृत भाषा के प्रति अवमानना का परिचय दिया है। नाट्यकार ने नाटक में संधि, अर्थ प्रकृति आदि का प्रयोग नहीं किया है। नाट्यकार ने संस्कृत भाषा की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला है। 20वीं शताब्दी में नाट्यकारों ने नाटक के लिए प्रान्तीय भाषाओं जैसे हिन्दी, बांग्ला, उडिया आदि का प्रयोग किया। सिद्धेश्वर चटर्जी के नाटकों में कई नए गढ़े गए शब्द हैं। इस नाटक में धर्मघट, मकमकायेसे (मेंढक की पुकार) जैसे शब्दों का प्रयोग प्रो. रीता चट्टोपाध्याय, सिद्धेश्वर चट्टोपाध्याय, भरतमुनि, के नाटकों में देखा जा सकता है। रङ्गमञ्च के जनक बादल सरकार का प्रभाव भी उसमें परिलक्षित होता है।

सहायक ग्रन्थ पञ्जी :-

1. *चट्टोपाध्यायः सिद्धेश्वरः, अथ किम, सम्पा. ऋता चट्टोपाध्यायः, संस्कृत साहित्य परिषत, 2006 (प्रथम संस्करणम्)।*
2. *आधुनिक संस्कृत नाटक, रामजी उपाध्याय,चौखाम्वा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1966 (द्वितीय संस्करणम्)।*
3. *संस्कृत वाङ्मय मे समाज एवं राष्ट्र, सम्पा. मनोहरलाल शास्त्री, राजस्थान संस्कृत अकादेमी, 2.13*
4. *संस्कृत साहित्ये पश्चिमवङ्गस्यावदानम्, सम्पा.नारायण दाशः, कथा भारती, कोलकाता, 2.13(प्रथम संस्करणम्), रासपूर्णिमा।*
5. *संस्कृत काव्यचर्चाय वाङाली, सम्पा.अञ्जलिका मुख्योपाध्याय, संस्कृत पुस्तक भाण्डारः, कलिकाता 2.13 (प्रथम संस्करणम्)।*
6. *संस्कृत साहित्य वीसवीं शताब्दी, सम्पा. राधाबल्लभ त्रिपाठी,राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्, 1999(प्रथम संस्करणम्)।*
7. *20^{th} century Sanskrit literature, Ed- Rita chattopadhaya, Sanskrit sahitya parishad, 2008.*

5

शिवसागर त्रिपाठी कृत पद्मिनीरत्नम्

शालिनी सक्सेना

आधुनिक काल के संस्कृत विद्वानों में प्रो. डॉ. शिवसागर त्रिपाठी का नाम भी सम्मान के साथ लिया जाता है। संस्कृत नाटकों की आनन्दमयी परम्परा में डॉ. शिवसागर त्रिपाठी कृत संस्कृत एकांकी ''नाट्यकल्प'' नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रकाशित किए गए हैं। भारत के महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित, साहित्यरत्न, साहित्याचार्य, शास्त्रचूड़ामणि आदि उपाधियों से विभूषित डॉ. शिवसागर त्रिपाठी राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से सेवानिवृत्त हुए। आपके पिता श्री शिवगोविन्द त्रिपाठी भी संस्कृत साहित्य के उद्भट् विद्वान् थे। आपकी रचना ''नाट्यकल्प'' में भारत के ऐतिहासिक, धार्मिक, पौराणिक एवं राजनैतिक कथानक को आधार बनाकर रचित एकांकियों में तत्कालीन समस्याओं के समाधान का प्रयास किया गया है। नाट्यकल्प के अन्तर्गत पद्मिनीरत्नम्, इदं न मम, शरणाशरणम् एवं हुतात्मसौहार्दम् नामक चार एकांकियों का संकलन किया गया है। त्रिपाठी जी की रचनाओं को समय समय पर देश भर की संस्कृत संस्थाओं एवं सरकारों द्वारा पुरस्कृत किया गया। उनकी अनूदित रचना ''गान्धिगौरवम्'' को उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत किया गया तो ''प्राणाहुति'' नाटक को राजस्थान सरकार द्वारा पुरस्कृत किया गया। ''नाट्यकल्प'' को भी उत्तरप्रदेश के संस्कृत संस्थान द्वारा पुरस्कृत किया गया है। उनकी गद्य रचना कथाकल्प को अम्बिकादत्त व्यास पुरस्कार प्रदान किया जा चुका है।

प्रो. त्रिपाठी द्वारा रचित ''पद्मिनीरत्नम्'' एकांकी की कथावस्तु पं. मोहनलाल शर्मा पाण्डेय द्वारा रचित पद्मिनी उपन्यास का नाट्य रूपान्तरण

कही जा सकती है। पद्मिनीरत्नम् की कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध मेवाड़ राजवंश के वीर राजा रत्नसिंह की अनन्यसुन्दरी वीरांगना रानी पद्मिनी से सम्बन्धित है। इस प्रकार इस एकांकी की कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध है तथा प्रसिद्ध मेवाड़ राज्यवंश से सम्बन्धित है जो कि सूर्यवंशी राजवंश कहलाता है। सम्पूर्ण एकांकी को आठ दृश्यों में विभक्त कर प्रस्तुत किया गया है। एकांकी के प्रथम दृश्य में यशस्वी राजा रत्नसिंह के पास एक धूर्त तान्त्रिक सिद्धयोगी राघवचेतन आता है। वह राजा से कामशास्त्र के अनुसार प्रसिद्ध चार प्रकार की नायिकाओं के सम्बन्ध में चर्चा करता हुआ पद्मिनी, चित्रिणी, शखिखनी एवं हस्तिनी के विषय में बताता है और पद्मिनी के विषय में सुनकर राजा जागता हुआ भी निःसंज्ञ सा हो जाता है। वार्ता करता हुआ वह तान्त्रिक वामतन्त्रचार का उल्लेख करता है और राजा से अन्तःपुर के सम्बन्ध में पूछता है। महाराज द्वारा रोक दिया गया वह महाराज के साथ शिकार पर चला जाता है। द्वितीय दृश्य में महाराज पद्मिनी के प्रासाद में प्रवेश करते हैं। वे राघवचेतन के विषय में पद्मिनी को बताते है कि शिकार पर उनके साथ गया वह अचानक गायाब हो गया शिवमन्दिर के महात्मा ने बताया कि इस तान्त्रिक से भविष्य में अनर्थ की सम्भावना बनेगी। राजा पद्मिनी से वार्तालाप कर रहे होते हैं। इसी बीच में राघवचेतन रत्नसिंह के कक्ष में आ जाता है। आने का कारण पूछने पर वह कहता है कि मैं पद्मिनी को देखने की लालसा से आया हूँ। उसके दुस्साहस से आक्रोशित राजा उसे कहता है कि यही तुम्हारा पाण्डित्य ओर ज्ञान है। तब राघवचेतन क्षमायाचना करता है लेकिन राजा उसे प्रतिहारी द्वारा प्रताड़ित करता हुआ निष्कासित कर देता है।

एकांकी के तृतीय दृश्य में दिल्ली सम्राट अल्लाउद्दीन खिलजी के दरबार का दृश्य उपस्थित होता है। वहाँ राघवचेतन का प्रवेश सैनिकों सहित होता है और अल्लाउद्दीन उसे प्राणदण्ड देता है लेकिन राघवचेतन उसे कहता है कि मैं बंगाल का निवासी हूँ और अभी चित्तौड़ से आया हूँ। वह रत्नसिंह द्वारा किए गए अपमान का प्रतिशोध लेने की बात कहते हुए उसके सम्मुख पद्मिनी के अद्भूद् सौन्दर्य का उल्लेख करता है और कहता है कि जिस सुन्दरी के कारण मेरा अपमान हुआ उसे चित्तौड़ पर आक्रमण कर आप अपने अन्तःपुर में ले आओ तभी मेरा प्रतिशोध पूरा होगा और आपको चित्तौड़ पर विजय भी प्राप्त हो जाएगी।

चतुर्थ दृश्य का प्रारम्भ चिन्ताग्रस्त रत्नसिंह के साथ होता है। वे पद्मिनी को बताते है कि दिल्ली दरबार में गए जैनाचार्य ने अल्लाउद्दीन की चित्तौड़ पर आक्रमण की योजना बताई है तथा राघवचेतन के षड्यन्त्र की कथा भी सुनाई। इसी दृश्य में पद्मिनी अपनी सखि भ्रमरिका से कहती है कि दिल्ली बादशाह ने रत्नसिंह को पत्र लिखकर कहा है कि अपनी सुन्दरी रानी पद्मिनी को मुझे दे दो अन्यथा मेरे साथ युद्ध को तत्पर रहो। राजा ने उन्हें सन्धि पत्र भेजा है और उसका प्रत्युत्तर भेजकर बादशाह ने कहा है कि यदि आप मर्यादावश पद्मिनी को नहीं दे सकते तो एकबार उसका मुख शीशे में दिखा दो तो मैं बिना युद्ध किए ही दिल्ली चल जाऊँगा। पंचम दृश्य में चित्तौड़ दुर्ग में बादशाह के स्वागत में रखे स्वर्णमण्डित सिंहासन को दिखाया गया है। बादशाह ने पद्मिनी को शीशे में देख लिया इस घटना का संकेत मात्र प्राप्त होता है जब बादशाह कहता है कि पद्मिनी को देखकर मेरे नेत्रों को निर्वाण प्राप्त हो गया राजा उससे भोजनशाला में प्रवेश का आग्रह करता है। अल्लाउद्दीन साथ में भोजन करने की इच्छा व्यक्त करता है। साथ भोजन करने के बाद रत्नसिंह उससे वापिस लौटने के विषय में पूछता है तो वह पाँच छः दिन बाद जाने को कहता है और रत्नसिंह से भी साथ चलने का आग्रह करता है। बादशाह के जाते ही सैनिक आता है और कहता है कि विश्वासघात हुआ है। अल्लाउद्दीन ने आक्रमण कर दिया है। नेपथ्य में मारकाट की आवाजें आती है।

षष्ठ अंक में चिन्ताग्रस्त पद्मिनी के साथ भ्रमरिका व्यूह रचती है। पद्मिनी बताती है कि बादशाह का आदेश आया है कि पद्मिनी को समर्पित करने पर ही रत्नसिंह को मुक्त किया जाएगा। सभा द्वारा पद्मिनी के समर्पण की बात से वह क्रुद्ध होकर कहती है कि नारी कोई वस्तु है जिसे समर्पित कर दिया जाए- ''किमस्ति नारी कोऽपि पदार्थः यः समर्पणीयः स्यात् कस्मैचिदपि।'' पद्मिनी पुनः गोरा एवं बादल के साथ मिलकर राजा को मुक्त कराने की योजना बनाती है और गोरा बादल को बुलाने के लिए भ्रमरिका को कहती है। पद्मिनी की योजना से राजा रत्नसिंह मुक्त हो जाते हैं। सप्तम दृश्य में राजसभा में पद्मिनी, गोरा, बादल की योजना की सफलता पर चर्चा और प्रसन्नता का माहौल दिखाया गया है। इसी बीच फिर युद्ध की ध्वनियां सुनाई देती हैं और भयंकर युद्ध होता है। बादल के हताहत होने के साथ चित्तौड़ के सैनिकों के अधिक संख्या में हताहत होने की सूचना

पद्मिनी को अजयसिंह देते हुए कहता है कि अब सेनापति पवनसिंह व्यूहरचना करेंगे। अष्टम दृश्य में चित्रलिखित शून्यमना पद्मिनी दिखाई देती है। तभी विक्षुब्ध भ्रमरिका आकर भयंकर युद्ध होने की सूचना देती है और कहती है कि अब निर्णायक युद्ध हो रहा है। महाराज दोनों हाथों में तलवार लेकर लड़े लेकिन महाराज भी लक्ष्मणसिंह के साथ वीरगति को प्राप्त हो गए हैं। यह समाचार सुनकर पद्मिनी संज्ञा शून्य हो जाती है। भ्रमरिका उसे आश्वस्त करती है। सभी रानियां अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ अलंकृत होकर तुलसीदल हाथ में लेकर गंगाजल का पान कर सुसज्जित चन्दनचिता की गोद में समा जाती है। तभी विजय घोष के साथ अल्लाउद्दीन प्रवेश करता है लेकिन उसे भस्म के सिवा कुछ नहीं मिलता। वह क्षत्रिय वीरांगनाओं के त्याग एवं साहस की प्रशंसा करता है। चारों ओर मृत्यु का ताण्डव देखकर द्रवीभूत हुआ बादशाह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। चारों दिशाओं से बादशाह की भर्त्सना होती है। इस प्रकार चारों दिशाओं से अपने विनाश का शाप सुनकर बादशाह संज्ञाविहीन हो जाता है। चित्तौड़ का शासन खिज्रखान को सौंपकर वापिस दिल्ली लौट आता है।

इस प्रकार कवि ने इतिहास प्रसिद्ध आख्यान को आठ दृश्यों में बाँटकर प्रस्तुत किया है। एकांकी पढ़कर पद्मगन्धा पद्मिनी के असाधारण सौन्दर्य के साथ उसके साहसी एवं कूटनीतिज्ञ स्वरूप के दर्शन होते हैं। पद्मिनी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं-

भवति कमलनेत्र नासिका क्षुद्ररन्धा
अविरलकुचयुग्मा चारूकेशी कृशाङ्गी।
मृदुवचनसुशीला गीतवाद्यानुरक्ता
सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा।

आचार्य धनंजय द्वारा प्रतिपादित वस्तु अर्थात् कथावस्तु के त्रिविध भेदों में यह एकांकी प्रख्यात भेद के अन्तर्गत समाहित होती है। इसमें राजस्थान के इतिहास प्रसिद्ध मेवाड़ राजघराने के राजा रत्नसिंह एवं उनकी अनुपम सौदर्ययुक्त पत्नी पद्मिनी के इतिहास प्रसिद्ध कथानक का चयन किया गया है। कथावस्तु को इतिवृत्त, वृत्त, कथानक, आदि नामों से अभिहित किया जाता है। वस्तु नाटक का शरीर कही गई है। आचार्य भरत के अनुसार वस्तु चार प्रकार की होती है- प्रख्यात,

औत्पत्तिक, अनार्ष एवं आहार्य। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार महाभारत, पुराणादि में से गृहीत वस्तु प्रख्यात, पुराणादि के अतिरिक्त बृहत्कथा आदि में उपनिबद्ध वस्तु अनार्ष एवं पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों से गृहीत वस्तु आहार्य कहलाती है।_नाट्यदर्पणकार के अनुसार वस्तु के द्विविध भेद उपात्त एवं प्रति-संस्कृत कहे गए हैं। तदनुसार इस एकांकी की कथा प्रतिसंस्कृत है क्योंकि यह कथा पौराणिक कथानक पर आधृत न होकर ऐतिहासिक कथा पर आधारित है। इस रूपक का आधार पं. मोहनलाल पाण्डेय का उपन्यास पद्मिनी कहा जाता है इस दृष्टि से एकांकी की कथावस्तु ''आहार्य'' कही जा सकती है। ''प्रख्यात'' वस्तु के अन्तर्गत भी इस कथानक को सम्मिलित किया जा सकता है क्योंकि इसका कथानक राजस्थान के इतिहास प्रसिद्ध घटनाक्रम पर आधारित है। फल की दृष्टि से यह इतिवृत्त आधिकारिक या मुख्य है। फल पर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है और उस फल का स्वामी अधिकारी होता है। अतः यह आधिकारिक वस्तु है।

वस्तु की पाँच अवस्थाओं का एकांकी में पूर्णतः परिपालन दिखाई देता है। एकांकी के प्रथम दृश्य ''आरम्भ'' कहा जा सकता है। इस अवस्था में कथा के फललाभ की प्रारम्भिक अवस्था का सूत्रपात होता है। राघवचेतन का आना और पद्मिनी से मिलने की लालसा प्रकट करना ही नाटक की आरम्भ अवस्था है। द्वितीय एवं तृतीय दृश्य में ''यत्न'' नामक अवस्था है जहाँ राघवचेतन पद्मिनी के दर्शन के लिए अन्तःपुर में चला आता है और तृतीय दृश्य में प्रतिशोध के लिए अलाउद्दीन को प्रेरित करता है। चतुर्थ से सप्तम दृश्य पर्यन्त ''प्रत्याशा'' नाम की कार्यावस्था परिकल्पित है जहाँ रत्नसिंह एवं अल्लाउद्दीन की सेनाओं के मध्य परस्पर जय पराजय की स्थिति बनी रहती है। तथा अन्तिम अष्टम दृश्य में ''नियताप्ति'' है। एकांकी संक्षिप्त होने से प्रथम से तृतीय दृश्य के मध्य ''बीज'' नामक अर्थप्रकृति है। तृतीय दृश्य में राघव चेतन के कथन में -''हे सम्राट्! रत्नसिंहप्रेयसी पद्मिनीविलोकनवशादेव मम जातो महान् तिरस्कारः। अतः आक्रमणं विधाय सा सुन्दरी स्वकीयान्तः पुरे स्थापनीया तदैव भविष्यति मम मनः शान्तिः'' बीज नामक अर्थ प्रकृति कहा जा सकता है। यही आगे जाकर चित्तौड़ पर आक्रमण का कारण बनता है।, चतुर्थ दृश्य में ''बिन्दु'' नामक अर्थप्रकृति है। यहाँ अल्लाउद्दीन की इच्छा का राजा रत्नसिंह पद्मिनी के समक्ष उल्लेख करते हुए कहते

हैं कि अल्लाउद्दीन की सभा में गए जैनाचार्य ने कहा है कि अल्लाउद्दीन शीघ्र ही चित्तौड़ आएगा। यह कथाप्रसंग ''बिन्दु'' नामक अर्थप्रकृति कहा जा सकता है। पंचम से सप्तम पर्यन्त ''कार्य'' है। एकांकी होने से पताका व प्रकरी के लिए स्थान का अभाव है क्योंकि कोई आवान्तर वृत्त का उल्लेख नहीं है। यथा स्थान सन्धियों का भी समावेश किया गया है।

किसी भी नाटक का नेता वह होता है जो कथावस्तु को आगे ले जाने में समर्थ हो। नाटक आदि में सभी क्रिया प्रकल्प नायक के अनुसार ही होते हैं। कथानक को उत्तरोत्तर ले जाने में नायक का प्रधान योग होता है। यथा- नायकानुसारित्वात्सर्व व्यवहाराणाम्।[1] अन्यत्र भी कहा है कि बीज बिन्दु आदि से युक्त नाटक को अन्त तक ले जाने वाला नायक होता हैः- बीजबिन्द्वादिसंवलितस्य नाटकस्य नाट्यन्तं नयतीति नायकः। सर्वथा येन सर्वं समाप्यते स खलु नायकः।[2] नाटक में प्रधान रस जो भी हो उसमें प्रधान कार्य अथवा फलागम अवश्य होता है। नाटक में ऐसे पात्र की अपेक्षा होती है जो सारे प्रयत्नों का फल भोगता है। वही वास्तविक फलभोक्ता एवं प्रधान चरित्र होता है। पद्मिनीरत्नम् नाटक के पात्रों पर विचार करें तो इसमें रत्नसिंह नायक एवं पद्मिनी नायिका है। अन्य पात्रों में अलाउद्दीन राघवचेतन, भ्रमरिका आदि हैं। गोरा, बादल, अजयसिंह, लक्ष्मणसिंह आदि पात्रों का उल्लेख भी किया गया है। नायक महाराजा रत्नसिंह धीरोद्धत नायक के रूप में वर्णित हैं। वीररस प्रधान नाटकों में प्राय धीरोद्धत नायक ही होते हैं। इस एकांकी का नायक वीर, उत्कृष्ट कुलोत्पन्न, तेजस्वी, विदग्ध, सुशील एवं मधुरस्वभाव का है। वह गुणी एवं उद्यमशील है। उसमें नायक के समस्त गुण विद्यमान हैं। यह इतिहास प्रसिद्ध प्रख्यात है। वह गम्भीर चित्त है। वह युद्धवीर है। वे राष्ट्रभक्त, धर्मपरायण, कर्तव्यनिष्ठ, सदाचारी है। उन्होंने जन्मभूमि की रक्षा के लिए स्वयं को बलिदान कर दिया। नायिका पद्मिनी है जो कि निसर्ग सुन्दरी है। उसका सौन्दर्य ही चित्तौड़ के विनाश का कारण बनता है। तान्त्रिक की कामुक दृष्टि का शिकार बनी पद्मिनी वीर एवं स्वाभिमानी नायिका है। वह अपने चरित्र की रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने को तत्पर है। क्षात्र धर्म की रक्षा के लिए तत्पर पद्मिनी कूटनीतिज्ञ की भाँति राजसभा में अलाउद्दीन के विरुद्ध व्यूह रचना करती है। अन्त में कुल की मर्यादा की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देती है। जब वह सुनती है कि उसे समर्पित करने का सभा द्वारा निर्णय लिया जा रहा है

तो वह विरोध करते हुए कहती है कि स्त्री कोई वस्तु है जिसका समर्पण कर दिया जाए। वह किसी भी प्रकार अल्लाउद्दीन के हाथ में पड़कर अपने सतीत्व का परित्याग नहीं करना चाहती और मृत्यु का वरण करती है। यह स्वकीया नायिका की श्रेणी में आती है तथा प्रौढ़ा नायिका है। काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित नायिकाओं में यह उत्तमा एवं धीरा नायिका के अन्तर्गत समाहित की जा सकती है। यद्यपि इस एकांकी में पुरुष एवं स्त्री दोनों पात्रों का विवेचन किया गया है। पर यदि कथावस्तु की दृष्टि से देखा जाए तो इस एकांकी का नायक अथवा नेता पद्मिनी सिद्ध होती है क्योंकि कथावस्तु पद्मिनी के इर्द-गिर्द ही घूमती है। कथा का सारा प्रकल्प पद्मिनी को लेकर ही बुना गया है। अन्त में उसके प्राणोत्सर्ग के साथ ही एकांकी का समापन होता है, अतः इस एकांकी की नेता पद्मिनी को कहा जाना उचित सिद्ध होता है।

नाट्य का प्रधान तत्त्व रस है। कवि का परम लक्ष्य सामाजिकों सहृदयों को रसानुभूति कराना होता है। रूपक के समस्त उपादान वस्तु, अभिनय आदि इसी प्रयोजन की सिद्धि करते हैं। इनका रस के साथ अंगांगिभाव सम्बन्ध होता है। नाटक की आत्मा रस है और रसोन्मेष ही नाट्यरचना का उद्देश्य होता है। उक्त एकांकी में वीर रस का उत्कर्ष देखने को मिलता है। युद्ध के प्रांगण में ही नाटक की कथावस्तु उत्कर्ष को प्राप्त होती है। एकांकी की नायिका स्वयं वीरांगना है। वह राजा को आश्वस्त करती है कि वीर क्षत्रियों के साथ युद्ध में विजय प्राप्त करना अल्लाउद्दीन के लिए असम्भव होगा। जब पद्मिनी के समर्पण की बात होती है तो वह कहती है- मयैव विधास्यते प्रतिशोधः। वह महाराज को छुड़ाने की योजना बनाती है। वह कहती है-''मया विचारिता योजना कार्यान्वयस्तु वीराणां कार्यम्।'' परमानन्द के कथन में वीर रस का सम्प्रेषण दिखाई देता है- ''धन्यास्ते वीराः ये जन्मभूमिस्नेहमाश्रित्य तद्रक्षायां स्वात्मसमर्पणं कुर्वन्ति।'' प्रारम्भ में राघव चेतन के द्वारा नायिका वर्णन में श्रृंगार रस की सूक्ष्म अनुभूति होती है। एकांकी का अन्त बीभत्स रस के साथ होता है जहाँ बादशाह को सर्वत्र राख एवं मृत वीरों के शव दिखाई देते हैं। मारय मारय.... कुठारेण भिन्धि भिन्धि खड्गेन छिन्धि छिन्धि......। इत्यादि शब्द वीररस की उद्भावना करते हैं। अतः सिद्ध है कि पद्मिनीरत्नम् एकांकी का प्रमुखरस वीर है।

यह एकांकी ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। इस एकांकी में अल्लाउद्दीन द्वारा पद्मिनी की चर्चा सुनकर उसे पाने की लालसा में किये गए युद्ध एवं पद्मिनी का अन्य स्त्रियों के साथ जौहर का वर्णन किया गया है। प्रो. त्रिपाठी ऐतिहासिक कथा को नाटकीय रूप प्रदान करने में पूर्ण सफल रहे हैं। चित्तौड़ पर विजय प्राप्त करने के बाद भी अल्लाउद्दीन के हाथ चिता की भस्म एवं चित्तौड़ के ध्वंस के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं आया। अल्लउद्दीन के पश्चाताप को दिखाने के लिए कवि ने चारों दिशाओं से उसके प्रति धिक्कार ध्वनियों का प्रयोग किया है। वह अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप करता है- ''हा धिक्! किं मे मनोरथपूर्तिः पद्मिनी भस्मसात् अभूत्। हा यस्य स्त्रीरत्नस्यकृते मया बहवो वीराः मारिताः नैके ग्रामाः नष्टीकृता परमद्य किं प्राप्तम्।'' यह कवि की कल्पना से अनुस्यूत नवीन उद्भावना है। इस प्रकार कवि एकांकी के माध्यम से मातृभूमि के प्रति समर्पण एवं त्याग की भावना उत्पन्न करते हुए भारतीय वीरांगनाओं के प्रति सम्मान की उद्भावना करने में पूर्णतः समर्थ रहे हैं। लेखक अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल रहे हैं। अभिनय की दृष्टि से नाटक सफल कहा जा सकता है। भाषाशैली की दृष्टि से लेखक ने सहज एवं सरल भाषा का प्रयोग किया है। भाषा भावों की अनुगामिनी होकर प्रस्तुत हुई है। युद्ध के दृश्यों में जहाँ मूर्धन्य ध्वनियों का प्रयोग हुआ है वहीं श्रृंगार वर्णन में सौम्य एवं मधुर शब्दावलियों का प्रयोग दिखाई देता है। सर्वत्र ओज एवं प्रासाद गुण का प्रसार परिलक्षित होता है।

संदर्भ -

1. *नाट्यदर्पण 2/सूत्र 124 की वृत्ति।*
2. *नाटकलक्षणरत्नकोश, नायक प्रकरण पृ. 27*

6

मृच्छकटिकम् में हास्य रस

राजेश मीणा

मृच्छकटिकम् प्रकरण का नामकरण षष्ठ अंक की एक अतिसंवेदनशील घटना के आधार पर 'मृच्छकटिकम्' किया गया है; जिसका अर्थ है मृद् + शकटिका अथवा मृतिकायाः शकटिका अर्थात् 'मिट्टी की गाड़ी'।[1] नाटक का नायक चारुदत्त अत्यन्त दरिद्र है तथा उसका पुत्र रोहसेन पड़ोसी बालक की सोने की गाड़ी से खेलकर आता है और वैसी ही सोने की गाड़ी स्वयं के पास भी हो- ऐसी हठ करते हुए रोता है।[2] चारुदत्त के परिवार की सेविका रदनिका उसे मिट्टी की गाड़ी बनाकर देती है और उससे बहलाती है, किन्तु बालक का रुदन व हठ जारी रहता है और वह मिट्टी की गाड़ी लेने से इनकार कर देता है।[3] इसी मार्मिक घटना के आधार पर इस प्रकरण का यह नाम रखा गया है। अत्यन्त संवेदनापूर्ण स्थलों के रहते हुए भी यह प्रकरण हास्य रस से सराबोर है; जो कि रंगमचीय अभिनय से सहृदय सामाजिकों एवं पाठकों आदि का अच्छा मनोरंजन करने वाला है। साथ ही दरिद्र जीवन की अभिव्यक्ति और ऐसे विषम समय में इसके पात्रों द्वारा अपने उच्च मानवीय मूल्यों को बनाए रखना तथा आचरण को अर्थ-धन के लालच में पतित व भ्रष्ट न करना इत्यादि बातें समाज के लिए सत्संदेश एवं उत्तम प्रेरणा प्रदान करने वाली हैं। शोधालेख के विषयानुसार यहाँ प्रस्तुत प्रकरण में हास्यरसाभिव्यक्ति को देखें तो प्रकरण के प्रारम्भ से अन्त तक इसमें हास्य रस के अनेक स्थल गुदगुदाने वाले हैं; जिनसे सभी का भरपूर मनोरंजन होता है। हांलाकि, नाटकादि में विदूषक की योजना हास्य रस का उद्भव करने वाली होती है और प्रस्तुत रूपक में भी विदूषक हास्य रस की सृष्टि करता देखा जा सकता है। इस प्रकरण में चौर्यकर्म करने वाले

शर्विलक एवं विदूषक के वार्तालाप में, राजश्याल शकार, जुआरियों का वार्तालाप, वीरक एवं इनके संवादों में हास्य रस की खूब सृष्टि हुई है; यथा- राजा का साला[4] शकार हमेशा अनर्गल, असंगत, उल्टी व अर्थहीन बातें करता है, तो इसकी बातों व संवादों से हास्य रस उद्भूत हो जाता है। प्रथम अंक में विट, चेट और स्वयं शकार के द्वारा पीछा की जाती हुई नायिका वसन्त सेना जब भयभीत होकर उनसे बचने हेतु भागती हुई दूर जाने का प्रयास करती है, तो यहाँ शकार जो असंगत उपमाएँ देता है, उन्हें सुनकर स्वतः ही हँसी आ जाती है। देखें-**''प्रसरसि भयभीता प्रस्खलन्ती स्खलन्ती, मम वशमनुयाता रावणस्येव कुन्ती।।''**[5] यहाँ शकार वसन्त सेना के पीछे भाग रहा है और कह रहा है कि ''भय से घबरायी हुई, बार-बार लड़खड़ाती हुई यद्यपि तुम भाग रही हो, तथापि मेरे वश में उसी प्रकार आ गई हो, जिस प्रकार रावण के वश में कुन्ती आ गई थी।'' इस प्रकार यहाँ 'रावण के वश में कुन्ती' शकार द्वारा दी गई यह गलत उपमा[6] हास्यास्पद है।

इसी प्रकार पद्य 25 में हास्य रस की खूब सृष्टि हुई है, जहाँ वह पुनः गलत व असंगत उपमाएँ देता है। शकार वसन्त सेना से कहता है-''राम से डरी हुई द्रोपदी के समान झनझन करते हुए आभूषणों की ध्वनि को मिलाती हुई क्यों भागी जा रही हो? जिस प्रकार हनुमान ने विश्वावसु नामक गन्धर्व की उस बहिन सुभद्रा का हरण किया था, उसी प्रकार मैं (शकार) तुम्हारा बलात् हरण कर रहा हूँ''- **झणज्झणायमान........... विश्वावसौर्भगिनीमिव तां सुभद्राम्।।**[7] इस प्रकार यहाँ भी दुर्योधन के बजाय राम से डरी हुई द्रौपदी कहना; सुभद्रा को श्रीकृष्ण की बहिन के बजाय विश्वावसु की बहिन बताना एवं उसका हरण अर्जुन के बजाय हनुमान द्वारा किया गया कहना- इत्यादि बातें असंगत भी हैं और हास्य रस की निष्पत्ति करने वाली हैं। इसके आगे भी वह स्वयं को एवं अपने साथियों को कुत्ते की तथा वसन्तसेना को शृगाली की उपमा देता है- जहाँ वह कहता है कि **''अस्माभिश्चण्ड-मभिसार्यमाणा वने शृगालीव कुक्कुरैः।''**[8] इस प्रकार शकार का यह कथन कि वन में हम कुत्तों के द्वारा पीछा की जाती हुई शृगाली के समान तुम भाग रही हो- खूब गुदगुदाने वाला है। यहाँ ''अस्माभिः कुक्कुरैः'' द्वारा हास्य रस की निष्पत्ति हुई है। आगे के पद्यों में भी शकार द्वारा भीमसेन को जमदग्नि पुत्र तथा दशकन्धर - रावण को कुन्तीपुत्र कहना[9], चाणक्य द्वारा द्रौपदी को केशों से पकड़ा जाना- **''केशवृन्दे**

परामृष्टा चाणक्येनेव द्रौपदी।"[10] श्वेतकेतु को पाण्डु पुत्र[11], रावण को इन्द्र द्वारा वरदान में प्रदत्त राधा का पुत्र **"पुत्रो राधायाः रावण इन्द्रदत्तः"**[12], अश्वत्थामा को राम द्वारा कुन्ती में उत्पन्न तथा जटायु को धर्मराज- यमराज का पुत्र कहना-**"आहो कुन्त्यां तेन रामेण जातः अश्वत्थामा? धर्मपुत्रे जटायुः?"**[13] इत्यादि असंगत बातें हास्य पैदा करती हैं तथा शकार की अज्ञानता को सूचित करती हैं।

वसन्त सेना के स्थान पर चारुदत्त की सेविका रदनिका को पकड़कर खुश होना कि मैंने वसन्त सेना को पकड़ लिया है[14] और अपनी थोथी डीगें हाँकना[15], **"दधिशर परिलुब्धायाः मार्जार्याः"**[16] अर्थात् दही के ऊपर मलाई खाने की लोभी बिल्ली कहना; जबकि दूध के ऊपर मलाई कहना चाहिए था- आदि द्वारा भी हास्य रस उत्पन्न हो रहा है। अपनी बहादुरी की डींगें हाँकने वाला शकार चेट द्वारा तलवार पकड़ाए जाने पर डरता है-**"तत् गृह्णातु भट्टारकः असिम्"**[17] और चेट के हाथ में ही रहे ऐसा कहता है-"तवैव हस्ते तिष्ठतु।" फिर तलवार उल्टी पकड़कर बड़ी ही हास्यास्पद उपमाएँ स्वयं के लिए एवं तलवार के लिए देता है- **"निर्वल्कमं मूलकपेशिवर्ण...............शृगालः शरणं प्रयामि।"**[18] यहाँ नंगी तलवार को मूली के छिलके के समान तथा स्वयं को उस सियार के समान बतलाया है, जिसके पीछे कुत्ते-कुतिया भौंक रहे हैं- यह हास्य रस पैदा करने वाला है। वसन्त सेना को स्वयं द्वारा दिए गए ग्यारह नामों को दस बताना भी हास्यास्पद लगता है।[19]

द्वितीय अंक में जुआरियों के प्रसंग में उनके वार्तालाप में खूब हास्य रस निष्पन्न हुआ है। जुए की लत से हारा हुआ तथा दस स्वर्ण सिक्कों का[20] कर्जदार हुआ संवाहक अपने दूसरे जुआरी साथियों- माथुर और द्यूतकर से बचने के लिए मूर्तिरहित मन्दिर में देवता के स्थान पर मूर्तिवत् निश्चल हो खड़ा हो जाता है और जब वे दोनों उसे ढूँढते हुए वहाँ आते हैं तथा वहीं बैठकर जुआ खेलने लगते हैं, तो वह छिपा एवं हारा हुआ जुआरी- संवाहक कौड़ियों की आवाज सुनकर स्वयं को रोक नहीं पाता तथा यह भूल जाता है कि वह इन्हीं दोनों के भय से छिपा हुआ है। दोनों जुआरी जब मेरा दाँव है, मेरा दाँव है- इस प्रकार झगड़ते हैं, तो वह निकलकर सामने आ जाता है[21] और कहता है-नहीं जी, मेरा दाँव है- तभी दोनों जुआरी उसे पकड़ लेते हैं और प्रसन्न होते हैं कि भागा हुआ जुआरी मिल गया और हमने पकड़

लिया और वे उससे अपना कर्ज- दस वर्ण के सिक्के माँगने लगते हैं-**''लब्धः पुरुष। गृहीत्वा। अरे लुप्तदण्डक! गृहीतोऽसि। प्रयच्छ तत् दशसुवर्णम्।''**

इस प्रकार यहाँ इस स्थल पर खूब हास्य उत्पन्न हुआ है। इसके बाद भी निरन्तर हास्यरसोत्पत्ति होती है, जहाँ कर्जदार जुआरी से अन्य दोनों जुआरी अपना कर्जा वापस माँगते हैं और वह देने में असमर्थता जताता है कि ''कहाँ से दूँ'', तो वे कहते हैं- ''अपने बाप को बेचकर दे।'' संवाहक कहता है- ''मेरे बाप कहाँ है?'' तो माथुर कहता है- ''अपनी माँ को बेचकर दे।'' इस पर वह पुनः कहता है- ''मेरी माँ कहाँ है?'' माथुर पुनः कहता है- ''तो स्वयं को बेचकर दे'', संवाहक कहता है- ''मुझे राजपथ पर ले चलो'' (बेचने के लिए) और फिर वह राजमार्ग पर जाते हुए भाँति-भाँति से स्वयं को दस सुवर्ण सिक्कों में खरीदने को आवाजें लगाता है। इस प्रकार द्वितीय अंक में जुआरियों के इस प्रसंग एवं वार्तालाप में हास्य रस गुदगुदाने वाला बन पड़ा है।

तृतीय अंक में विदूषक के द्वारा हास्य रस की सृष्टि की गई है। एक स्थान पर वह जमीन में सोने के कारण स्वयं को पीटे हुए गधे के समान बतलाया है।[23] रात में चोरी के उद्देश्य से चारुदत्त के घर में चोर शर्विलक द्वारा चोरी हेतु सेंध लगाने और सोते हुए विदूषक द्वारा स्वर्णभाण्ड की रक्षा करने- इस प्रसंग में भी हास्य रसोत्पत्ति हुई है। नींद में बड़बड़ाता हुआ विदूषक चोरी के भय से उस स्वर्णभाण्ड को चारुदत्त के भ्रम में चोर शर्विलक को ही दे देता है। दरिद्र का घर समझकर जब चोर शर्विलक वह गहने नहीं लेता तो नींद में ही विदूषक उसे गाय और ब्राह्मण की शपथ कहकर जबरदस्ती सुवर्ण भाण्ड देता है-''भो वयस्य! शापितोऽसि गोब्राह्मणकाम्यया, यदि एतत् सुवर्णभाण्डं न गृह्णासि।''[24] और निश्चिन्त हो जाता है कि उसने वह गहनों का डिब्बा सुरक्षित रूप से चारुदत्त को दे दिया। यहाँ भी खूब हास्य रस निष्पन्न हुआ है। चतुर्थ अंक में विदूषक जब वसन्त सेना के भवन के विभिन्न प्रकोष्ठों में उसकी परिचारिकाओं के साथ जाता है, तो वहाँ भी उसकी बातें भी हँसाने वाली हैं। वसन्तसेना की माता, जो चौथिया बुखार से पीड़ित हैं, उसके मोटे पेट को देखकर वह उनकी हँसी उड़ाता है[25] और यह कहता है कि यदि ये मर जाएँ तो हजारों सियारों का भोजन पूरा हो जाएगा- **''यदि म्रियतेऽत्र माता भवति शृगालसहस्रयात्रा।''**[26]

पंचम अंक में चेट और विदूषक के प्रश्नोत्तर संवादों में खूब हास्यरसानुभूति होती है; क्योंकि चेट द्वारा पूछे गए बड़े आसान से प्रश्नों के उत्तर भी विदूषक गलत देता है और सही उत्तर के लिए बार-बार चारुदत्त के पास जाकर पूछता है।[27] इसके बाद भी वसन्त सेना के समक्ष भोलेपन से की गई बातों में हास्य रस निष्पन्न हुआ है। षष्ठ अंक में वीरक-चन्दन के विवाद में भी हास्यरसानुभूति होती है। आगे नवम अंक में भी हास्यरस का परिपाक देखा जा सकता है।

इस अंक के प्रारम्भ में राजश्यालक शकार द्वार स्वयंकी प्रशंसा करना- **''गन्धर्व इव सुविहितैरङ्गकै।''**[28] एवं **''क्षणेन ग्रन्थिः................. चित्रे विचित्रेऽहं राजश्यालः।।''**[29] न्यायालय में मुकदमा सुनने वाले अधिकरणिक के समक्ष स्वयं का हास्यास्पद परिचय देना- **''राजश्वसुरो मम............ भगिनीपति राजा।।''**[30] इसके बाद आगे के वार्तालाप में भी हास्य रस की उत्पत्ति हुई है। न्यायालय में मुकदमे की सुनवाई के दौरान विदूषक, वसन्तसेना की माता तथा शकार के बीच हुए संवादों में भी हास्य रस बन पड़ा है। दसवें अंक में शकार की बातों से पुनः हास्यरसानुभूति होती है। अंत में शकार के दोषी सिद्ध होने पर और पकड़कर बाँधे जाने पर वह स्वयं की तुलना गधे एवं कुत्ते से करता है- **''एवं दूरमतिक्रान्तः............ कुक्कुरोऽन्य इव दुष्करः।।''**[31] यहाँ भी हास्यरसानुभूति होती है। इसके बाद वह वसन्तसेना से स्वयं की रक्षा की प्रार्थना करते हुए भी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अनर्गल बात बोलता है; अतः यहाँ भी हास्य रस उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में अतिगम्भीर एवं करुणयुक्त स्थल होते हुए भी आद्योपान्त अनेक स्थलों पर हास्य रस की सृष्टि हुई है, जो भरपूर मनोरंजन करने वाली रही है।

व्यक्ति की अन्य सभी आवश्यकताओं के साथ मनोरंजन एवं हास्य भी अनिवार्य बना रहता है। साहित्य ने सदैव के समाज के यथार्थ चित्र को प्रस्तुत करने, सद्संदेश, उत्तम शिक्षा और प्रेरणा देने, व्यक्ति का मनोपरिष्कार और मनोरंजन करने का कार्य किया है। सबसे मुख्य बात हास्य के स्थलों में कहीं भी अश्लीलता, भद्दापन नहीं है तथा मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण सभी दृष्टियों से सफल रहा है; क्योंकि इन सभी कार्यों को इसने बखूबी सम्पन्न किया है। रंगमंचीय अभिनयु पठन, श्रवण से सभ्य, सहृदय सामाजिकों एवं रसिक पाठक व श्रोताओं का भरपूर मनोरंजन करने वाला रहा है; क्योंकि इसमें शोधपत्र में विवेचित स्थलों के अनुसार हास्य रस के स्थलों की प्रचुरता रही है।

अतः श्रृंगार रस प्रधान होने के बावजूद यह हास्यरस से सराबोर होने से अतिरुचिकर एवं विशिष्ट बन पड़ा है।

सन्दर्भ -

1. *मृच्छकटिकम् - महाकवि शूद्रक विरचित, व्याख्याकार एवं सम्पादक - डॉ. जयशंकर लाल त्रिपाठी, प्रकाशक- कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण- वि.सं. 2043, प्रथम अंक/पृष्ठ 371,72, 74 ''- मृच्छकटिकम् - मृतिकाशकटिका इत्यर्थः।"*
2. *वही, 1/ पृष्ठ-371 पर गद्य- ''किं मम एतया मृत्तिकाशकटिकया; तामेव सौवर्णशकटिकां देहि।"*
3. *वही, पृष्ठ 371-72 पर गद्य।*
4. *वही, पृष्ठ 57 'राजश्याल' - राजा का साला, रखैल का भाई, प्रकरण का प्रतिनायक, 'श' उच्चारण की अधिकता के कारण 'शकार' नाम - 'राज्ञःश्यालः शकार इत्युक्तः।।'*
5. *वही, अंक 1/ पद्य 21, पृष्ठ-61*
6. *वही, पृष्ठ-61 - 'रावणस्येव कुन्ती' एवं इसी प्रकार शकार द्वारा आगे दी गई उपमाएँ शास्त्रविरुद्ध एवं असंगत होने से 'हतोपमा' कहलाती हैं।*
7. *वही, 1/25, पृष्ठ 66-67*
8. *वही, 1/28, पूर्वार्द्ध पंक्ति, पृष्ठ-70*
9. *वही, 1/29, पूर्वार्द्ध पंक्ति - ''किं भीमसेनो.................. दशकन्धरोवा।"*
10. *वही, 1/39, उत्तरार्द्ध पंक्ति, पृष्ठ-92*
11. *वही, 1/47, पूर्वार्द्ध पंक्ति- ''शूरो विक्रान्तः पाण्डवः श्वेतकेतुः।"*
12. *वही, 1/47, पूर्वार्द्ध पंक्ति, पृष्ठ-104*
13. *वही, 1/47 उत्तरार्द्ध पंक्ति, पृष्ठ-104*
14. *वही, 1/39-41*
15. *वही, 1/41, 9/1-3, पृष्ठ-512 पर गद्य- ''अहं वरपुरुषः मनुष्यः वासुदेवः..........।"*
16. *वही, 1/41 के बाद गद्य, पृष्ठ-94*
17. *वही, 1/51 के बाद गद्य, पृष्ठ-113*
18. *वही, 1/52, पृष्ठ 113-114*

19. वही, 1/23, पृष्ठ 63-64 ''एषा नाणक.. एतान्यस्य दश नामकानि मया कृतानि.. ।

20. वही, 2/पृष्ठ-134 पर गद्य- ''दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूतकरः प्रपायायितः ।"

21. वही, 2/पृष्ठ-143 पर गद्य

22. वही, 2/6 के बाद गद्य, पृष्ठ-143

23. वही, 3/6 के बाद गद्य, पृष्ठ-191

24. वही, 3/18 के बाद गद्य, पृष्ठ-209

25. वही, 4/29 के बाद गद्य, पृष्ठ-290

26. वही, 4/30 - उत्तरार्द्ध पंक्ति, पृष्ठ-291

27. वही, 5/11 के बाद गद्य, पृष्ठ- 315-317

28. वही, 9/1, पृष्ठ-504, पद्य का चतुर्थ पाद

29. वही, 9/2, पृष्ठ-505

30. वही, 9/6, पृष्ठ-516

31. वही, 10/53, पृष्ठ-635

32. वही, 10/54 के बाद गद्य, पृष्ठ-638 -''गर्दभदासी पुत्री! प्रसीद प्रसीद........... तत् परित्रायस्व ।"

7

वैदिक साहित्य और नाटक : आधार-आधेय

अभिनेश्वर सिंह

वैदिक साहित्य एक बिम्ब है जिसमें नाट्य साहित्य प्रतिबिम्बित होता है और उस नाट्य साहित्य में तत्कालीन समाज जीवन्त रूप में प्रतिबिम्बित होता है। जितनी सरलता से हम नाटक के द्वारा समाज के तत्त्वों को प्रदर्शित एवं आत्मसात् कर सकते हैं उतनी साहित्य की अन्य विधाओं में सम्भव नहीं है। यही कारण है कि नाटक का प्रचलन हमारे प्राचीन वैदिक-दार्शनिक साहित्य से लेकर आज तक अनवरत चला आ रहा है। हिन्दी संस्कृत में प्रचलित वर्तमान नाटकों का आधार नाट्यशास्त्र है और नाट्यशास्त्र का आधार वैदिक साहित्य। यहाँ वैदिक साहित्य से अभिप्राय वेद-वेदांगों के साथ-साथ पंचम वेद के रूप में प्रतिष्ठित पुराण, रामायण और महाभारत से भी है क्योंकि नाटक के बीज इन ग्रन्भों में भी प्राप्त होते हैं।

भारतीय मनीषियों ने नाटक को 'दृश्यकाव्य' की संज्ञा दी है। काव्य के समस्त रूपों में इसे सर्वाधिक मनोरम माना गया है। संस्कृत के काव्य को 'कवेरिदं कार्यं भावो वा' कहा गया है। अभिनवगुप्त ने 'कवनीयं काव्यम्' कहकर काव्य को कवि की रचना कहा है। आचार्य मम्मट ने 'काव्यं लोकोत्तरवर्णना निपुणं कवि कर्म' कहा है। वैदिक सूक्तों में कवि को मनीषी, परिभूः और स्वयंभू कहा गया है। 'मनीषी' का अर्थ है, असाधारण मननशील, 'परिभूः' का तात्पर्य है, वह कवि जिसकी जीवन दृष्टि परिव्याप्त हो, 'स्वयंभू' का अभिप्राय है- जिसमें स्वयम् अर्थात् सहज रूप में अनुभूति का सामर्थ्य हो। इसीलिए आचार्यों ने 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' एवं 'वर्णन निपुणता' को कवि का अनिवार्य धर्म माना है। काव्य का संसार श्रवणीय होता है और नाटक का चक्षुग्राह्य, इसलिए उसे दृश्य-काव्य कहा जाता है।

नाटक सामान्यतः 'नट्' धातु से उत्पन्न माना जाता है। 'नट्' के अर्थ नृत्य, अभिनय और अनुकरण माने गये है। 'नट' शब्द का प्रयोग अभिनेता के लिए भी किया जाता है। भाव-प्रकाशन के अर्थ में भी 'नट्' का प्रयोग किया जाता है। भारतीय आचार्यों ने रस को नाटक का मूलतत्त्व माना है। नाटक का मुख्यार्थ रस है, अन्यार्थ लाक्षणिक ही है। भारतीय नाटक सामाजिक को इसके सामान्य सुख-दुःखात्मक चेतना से ऊपर उठाकर आनन्द लोक में ले जाता है। समग्रतः नाटक उस काव्य रचना को कह सकते हैं जिसमें वास्तविक या कल्पित त्रयलोकों की सर्वांगीण अवस्थाओं का अनुकरण हो। विनोद-जगाने हेतु उसमें संगीत का प्रयोग हो तथा हितोपदेश जनक बनाने हेतु संवाद इतना भावपूर्ण हो कि जब अभिनेतागण उसका अभिनय करें तो दर्शक अपने समस्त व्याधियों तथा क्लेशों को विस्मृत कर नाटक के साथ एकचित्त हो जाये।

नाट्य-सिद्धान्त के प्रचीनतम ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में उपलब्ध नाट्य-परम्परा नाटक की वैदिक उत्पत्ति की ओर इंगित करती है। देवताओं ने परम पिता ब्रह्मा जी से ऐसी वस्तु के निर्माण की प्रार्थना की जो कि सर्वश्राव्य और कर्णप्रिय हो, जिसमें चतुर्वेदों के तत्त्व समाहित हों तथा जो शूद्रों द्वारा पठनीय भी हों। ब्रह्मा जी ने देवों के अनुरोध पर 'नाट्यवेद' नामक पंचम वेद की रचना की। इसमें शिव जी ने ताण्डव नृत्य और पार्वती जी ने श्रृंगारिक रस का आविष्कार किया। ब्रह्मा जी ने चारों वेदों में से ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रस और भाव को लेकर नाट्यवेद की सृष्टि की जो वेदों में नाटकीय तत्त्व की विद्यमानता को सिद्ध करता है-

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।[1]

ऋग्वेद में पाठ्य की विशेषताओं से युक्त अनेक सूक्त उपलब्ध होते है। इनमें यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, सरमा-पणि, विश्वामित्र-नदी आदि संवाद सूक्त ही कालान्तर में नाटकों एवं नाटकीय तत्त्वों के आधार बनें।

'यम-यमी' संवाद अत्यन्त प्रचीन है। यह गीत परवर्ती युग के महान काव्यों एवं नाटक साहित्य का आधार है। कालान्तर में पद्य नाटक या काव्य-नाटक की जो परम्परा विकसित हुई उसकी प्रारम्भिक स्थिति की एक रूपरेखा इस संवाद में द्रष्टव्य है। यम-यमी संवाद का यदि हम अभिनेयता से सम्बन्ध स्थापित करें तो

यह बात स्पष्ट होती है कि इसमें पात्रों का आत्म परिचय है, अन्तर्द्वन्द्व का संकेत है, संवाद संक्षिप्त है, परिवेश की चर्चा है तथा कल्याण का उद्देश्य भी समाहित है। यह संवाद श्रव्य ही नहीं, दृश्य नाट्य की समस्त सम्भावनाओं को समाहित किये हुए है। यह संवाद प्रश्नोत्तर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम मंत्र में यमी अपना और यम का सम्बन्ध बताती है और मिलनाकांक्षा का संकेत करती है। यम भाई-बहन के पवित्र रिश्ते की दुहाई देते हुए देवगण की सर्वत्र सदैव सजगता, माता-पिता के पवित्र सम्बन्धों की चर्चा करके स्वेच्छाचारिता का निवारण करता है- **गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ।**[2]

यमी रथ के दो चक्रों का उदाहरण देकर समान कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरण देती है, परन्तु यम अपनी बहन से दूर जाने को कहता है, क्योंकि वह परम्परावादी और आदर्शवादी है। यमी, यम के होते हुए अपने आपको अनाथ होने की दुहाई देती है किन्तु यम अपने आदर्शवादी सिद्धान्तों से विचलित नहीं होता। इस प्रकार यम का कथन भारतीय नाटकों की परम्परा, संस्कृति एवं आदर्श का नमूना प्रस्तुत करता है।

महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक का आधार 'पुरूरवा-उर्वशी' संवाद पुरूरवा-उर्वशी के चरित्र-चित्रण के साथ सोद्देश्य भी है क्योंकि इसके माध्यम से नर-नारी के सम्बन्धों का निरूपण किया गया है। यह संवाद सूक्त काल-योजना को एक सूत्र में पिरोये हुए है। वर्तमान, अतीत और भविष्य की स्थितियों का इसमें स्पष्ट उल्लेख है। भारतीय नारी किसी भी स्थिति में अपने पति की अकल्याण-कामना नहीं कर सकती। नर-नारी सम्बन्धों का निरूपण इस सूक्त का मुख्य उद्देश्य है। अवधारणा एवं काव्यात्मकता इन गुणों से समन्वित यह कथन-उपकथन नाटकीय सम्भावनाओं की ओर इंगित करता है। उर्वशी आत्मनिरूपण कर कहती है कि वह वायु की भाँति दुष्प्राप्य है अतएव पुरूरवा को उसे प्राप्त करने का प्रयास न करके वापस लौट जाना चाहिए-

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इंवाहमस्मि।।[3]

पुरूरवा स्वयं को उर्वशी के वियोग से व्यथित स्वीकारते हैं। वे वियोग में राजकार्यों के प्रति भी विरक्त हो जाते है-

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नौरा न मायुं चितयन्त धुनयः।।[4]

अवधारणा एवं काव्यात्मकता इन गुणों से समन्वित यह कथन-उपकथन नाटकीय संभावनाओं की ओर इंगित करता है। भारतीय नाट्य परम्परा में पुरूरवा-उर्वशी पाठ्य को लेकर कई नाटक लिखे गये, जिसमें कालिदास का 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध है।

ऋग्वेद में 'सरमा-पणि' संवाद वाद-विवाद के रूप में प्रस्तुत है। इसमें असुरों और सुरों की शक्ति, सामर्थ्य और क्षमता का तुलनात्मक अनुशीलन भी किया गया है। यह संवाद दो पात्रों सरमा (इन्द्र की दूती) और पणि (असुर) के मध्य हुआ है। इस संवाद से ऋग्वेद की नाट्य धर्मिता पर प्रकाश पड़ता है। इसमें जो प्रश्नोत्तर सरमा और पणि के बीच रखे गये है, वे जीवन्त है, दोनों की मनःस्थितियों के उद्घाटक है। पात्रों की मनोदशाओं की ओर इंगित करने वाले इस संवाद में सरमा के आत्मविश्वास, निर्भीकता और देवताओं द्वारा रक्षित होने की उसकी अवस्था उद्घाटित होती है। इन्द्र की शक्ति के सम्बन्ध में पणि की जिज्ञासा भी मनोवैज्ञानिक है। यह संवाद सूचना परक है, आत्मप्रशस्ति से समन्वित है तथा कार्य-व्यापार का संकेतक भी है-

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः परायैः।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत् कथं रसाया अतरः पयांशि।।
इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन् वः।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांशि।।[5]

'विश्वामित्र-नदी' संवाद कवित्वपूर्ण है। इसमें अनेक स्थलों पर बिम्ब-सृष्टि का प्रयास किया गया है। विपाशा और शतुद्री नदियों तथा ऋषि विश्वामित्र का सम्भाषण नाटकीयता से आपूरित है। विश्वामित्र जब अपने पौरोहित्य कर्म निवृत्ति के पश्चात् धनार्जन कर वापस लौट रहे थे तब रास्ते में विपाशा और शतुद्री नदियों की अपार जल राशि ने उन्हें निराश कर दिया। वे साहसदीन हो गये। तब उन्होंने दैन्य पूर्वक दोनों नदियों से प्रार्थना की। समुद्र से मिलने जाती हुई विपाशा और शतुद्री नदियों के लिए दो बिम्बों के रूप में सृजन की गई नदियाँ अश्वशाला से विमुक्त अश्व के समान गतिशील है, दो गायों के समान वेगवती हैं-

प्र प्रवर्तानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।।[6]

ऋग्वेद में **'बहुसंवाद'** वाले पाठ्य की प्राप्ति **'अगस्त-लोपामुद्रा'** संवाद में होती है, जिसमें तीसरा पक्ष पुत्र के वार्तालाप के रूप में उपस्थित होता है। कहीं-कहीं एक पक्ष व्यक्ति न होकर व्यक्ति समूह का द्योतक है। सरमा-पणि संवाद सूक्त इसका उदाहरण है। इसमें इन्द्र की दूती सरमा अपहृत गायों का अन्वेषण करती हुई असुरों के निकट जाती हैं। विश्वामित्र-नदी तथा वशिष्ठ और पुत्रों के साथ संवाद दोनों ही ऐतिहासिकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इन्द्र का मरुतों के साथ संवाद 'बहुसंवाद' का उदाहरण है।

उपर्युक्त संवाद सूक्तों के अतिरिक्त अन्य सूक्तों जैसे- इन्द्र-मरुत्, अगस्त-इन्द्र, वामदेव-इन्द्र-अदिति, इन्द्र-वरुण, वशिष्ठ-पुत्र, नमो-भार्गव, इन्द्र-वसुक, अक्षस सूक्त, अग्नि-वरूण, इन्द्र-इन्द्राणी, इन्द्र-एकालाप, यम-नचिकेता, श्वेतकेतु-आरूणि, विश्वामित्र-जमदाग्नि इत्यादि संवाद सूक्तों में भारतीय नाट्यशास्त्र एवं नाटकों का बीज सांगोपांग व्याप्त है। यह भी निर्विवाद सत्य है कि इन संवाद सूक्तों में नाटक के संवाद के आधारभूत तत्त्व विद्यमान है या ये संवाद की नाटकीय स्थिति के परिचायक हैं। इस संवाद सूक्तों से प्रेरणा लेकर महाकवि रविन्द्रनाथ टैगोर ने 'उर्वशी' गीतकाव्य की सृष्टि की। श्री अरविन्द घोष ने भी 'उर्वशी' नामक खण्डकाव्य की रचना की। भारतीय दृष्टिकोण की इस मौलिकता ने पुरूरवा-उर्वशी संवाद को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। केवल नाट्य ही नहीं अपितु जीवन की नाटकीयता भी संवाद सूक्तों में विद्यमान है। पाश्चात्य विद्वान् मैकडोनल ने **'हिस्ट्री ऑफ लिट्रेचर'** में कहा है कि सरमा-पणि, यम-यमी, तथा पुरूरवा-उर्वशी के संवाद ही भारतीय नाट्य साहित्य के आदिरूप है, जिनमें से पुरूरवा-उर्वशी के कथानक को लेकर भारत के अद्वितीय नाटककार कालिदास ने इस वैदिक आख्यान के कई सहस्र या इससे अधिक वर्षों के पश्चात् 'विक्रमोर्वशीयम्' नामक त्रोटक की रचना की।

संस्कृत नाटकों में अभिनय का आधार **'यजुर्वेदादभिनयान्'** के रूप में यजुर्वद में प्राप्त है। नाट्य-कला में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व अभिनय को स्वीकारा गया है, क्योंकि नाटक रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत की गई जीवन्त कहानी ही है। सामाजिक इस प्रस्तुति से नयनाभिराम अभिनय देखते हैं अभिनय को

सामान्यतः अनुकरणात्मक माना गया है। इसका एक मात्र कारण यह है कि प्रायः विद्वानों ने नाटक को मानव जीवन की अनुकृति के रूप में ही स्वीकृति प्रदान की है। आचार्य भरत ने त्रैलोक्य की घटनाओं के अनुकरण के रूप में नाटक को स्वीकारा है।

भारतीय आचार्यों ने अभिनय के चार प्रकार- वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्त्विक, माने हैं। शारीरिक चेष्टाओं के अंकन द्वारा यजुर्वेद में आंगिक अभिनय को अभिव्यक्त किया गया है। यजुर्वेद में याज्ञिक क्रियाओं का प्राधान्य है और इन क्रियाओं को सम्पन्न करने हेतु शारीरिक चेष्टाओं की आवश्यकता होती है। अतएव आंगिक अभिनय यजुर्वेद में नैसर्गिक तथा स्वाभाविक है। दर्शपूर्णमास के अवसर पर यज्ञकर्ता सवितृ देव को तण्डुल गण की हवि प्रदान करता है। इस अवसर पर वह तीन बार चावलों को फटकता है, क्योंकि यज्ञ त्रिवृत (तिहरा) है। फटकने में हस्त क्रियाओं का संचालन स्वतः समाहित है। इसी प्रकार वेदी के अन्दर बैठने, उपसर्जनी जल लाने, पिसे हुए आटे को गूँथने इत्यादि ऐसी शारीरिक चेष्टाएँ है, जिनके सम्पादन द्वारा आंगिक अभिनय पर प्रकाश पड़ता है- **अथान्तर्वेद्युप-विशति। अथैकऽउपसर्जनीभिरैति ताऽआनयति। अथ संय्यौति........वे संय्यौति।।**[7]

वाचिक अभिनय को सशक्त बनाने हेतु यजुर्वेद में अलंकारों का प्रयोग किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को गाड़ी और गाड़ी के जुआ को अग्नि के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। यज्ञरूपी गाड़ी और जुआरूपी अग्नि की विवृत्ति द्वारा वाचिक अभिनय को सशक्त किया गया है- यज्ञा वाऽअनः। **यज्ञा हि वाऽअनस्त स्मादनस।**[8]

आहार्य स्वरूप को समग्र नाट्याभिनय का आधार कहा गया है। आहार्य से अभिप्राय है- कृत्रिम, नैमित्तिक, साभिप्राय और शृंगार या आभूषण से संप्रेशित अथवा प्रभावित अभिनय। यजुर्वेद में दर्शपूर्णमास के अवसर पर **'तू विष्णु की चोटी है'** इस मंत्र को उच्चारित किया जाता है। यहाँ यज्ञ तो विष्णु है, विष्णु की चोटी ही यज्ञ की शिखा है-**पुरस्तात्प्रस्तरं गृह्णाति विष्णोस्तूपोऽसीति यज्ञे वै विष्णुस्तस्येयमेव शिखा स्तुपऽएतोमेवाऽस्मिन्नेतद्दधाति पुरस्तात् गृह्णति।'**[9]

इसी प्रकार पितरों के उल्लेख में दाहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करने का उल्लेख प्राप्त होता है। बराह के चर्म के जूते धारण करने का वर्णन भी वेशभूषा से अवगत कराने के कारण आहार्य अभिनय के अन्तर्गत ही रखा जायेगा- **अथ वाराह्वाऽउपानहाऽउपमुच्यते।'**[10]

सात्त्विक अभिनय से तात्पर्य उन भावों के अभिनय से है जो अन्तःप्रेरणा से सहज रूप में स्वभावतः उत्पन्न होते है। यजुर्वेद में सात्त्विक अभिनय के कई स्थल द्रष्टव्य है। सामिधेनी को अग्नि में डालने के सन्दर्भ में सात्त्विक अभिनय का नियोजन किया गया है। छठी सामिधेनी के समय कोई अपशब्द कहे तो उससे कहना चाहिए कि तूने अपने मन को अग्नि में डाल दिया। यह मन तुझे पीड़ा प्रदान करेगा। इसी प्रकार वाणी की खिन्नता और तज्जन्य गर्भपात की प्रक्रिया को स्वर के अन्तर्गत रखा जायेगा और इस प्रकार सात्त्विक अभिनय स्वतः सिद्ध हो जाता है- **सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मिये। तस्यै गर्भः पपात्।'**[11] इसी प्रकार ग्रह के अधिष्ठातृ देव के भयभीत होने और कम्पित होने की शारीरिक क्रिया द्वारा भी यजुर्वेद में सात्त्विक अभिनय का संकेत किया गया है। भय, शरीर के प्रकम्पन को 'वेपथु' कहा जाता है और यह सात्त्विक अभिनय का चिह्न है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यजुर्वेद में वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय के अनेक स्वरूप सम्प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं इन अभिनयों के सम्मिलित स्वरूपों का संकेत भी किया गया है। पुस्तकविधान और प्रतीकात्मकता के सन्दर्भ में भी वाचिक आदि अभिनय यजुर्वेद में प्रयुक्त हुए है। पशु-पक्षियों को भी रंगमंच पर दिखाया गया है। हिंसक पशुओं को यथासम्भव रंगमंच से अलग रखा गया हैं, रक्तपात का भी रंगमंच पर निषेध-सा प्रतीत होता है। कहीं-कहीं पर रंगमंचीय निर्देश भी दिये गये हैं।

'सामभ्यो गीतमेव च' आचार्य भरतमुनि के इस वाक्य के अनुसार नाटक में 'गीत' का आधार सामवेद है। नाटक में संवाद गायन और वादन चक्र की भाँति परस्पर समन्वित होते हैं। अभिव्यंजना विधान में गायन और वादन वह आधार है जिस पर रचना का पूरा विधान निर्भर होता है। भारतीय संगीत में सप्त स्वर, यथा- षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद माने गये है। नाटकीय प्रयोगों में स्वरों के चार संयोग, यथा- वादी, संविदी, विवादी और अनुवादी स्वीकार किये गये हैं। इन स्वर संयोगों को ग्राम की संज्ञा दी गयी हैं। अनेक प्रकार के स्वर ग्रामों को लेकर विभिन्न रागों की सृष्टि मानी गई हैं। प्रत्येक राग की तीन अवस्था में ग्रह, अंश और न्यास हैं। आचार्य भरत ने नाटक के कथा-प्रवाह के मध्य में किसी भाव-दशा को सक्रियता प्रदान करने तथा उसे अधिक बोधगम्य बनाने हेतु गीतों की योजना की है। इस प्रसंग में उन्होंने 'ध्रुवगीति' का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित गीति तत्त्व एवं संस्कृत नाटकों में गीति का मूलाधार सामवेद है। साम तो वस्तुतः गानाश्रित ही है, इसी तथ्य की पुष्टि जैमिनी सूत्र में भी की गयी है- **गीतिषु समाख्या'**।[12] जैमिनि सूत्र के ऊपर शबर स्वामी का भाष्य भी इसी का प्रतिपादन करता है- **सामवेदे सन्ति सहस्रं गीत्युपाया। आह। कतमेते गीत्युपाया नाम उच्यते। गीतिर्नाम क्रिया हाभ्यन्तरजन्या स्वर विशेषणामभि-व्यंजिका साम शब्दाभिलप्या।**[13]

नाट्य में गीत को प्राण के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है और गीत का मूल आधार सामवेद है। वैदिक वाड्.मय में गीत के संदर्भ में सामवेद को सर्वाधिक मान्यता प्रदान की गई है समस्त वाड्.मय में वेद, वेदों में सामवेद और सभी सामों में उनके सर्वस्व मत 'गान' प्रशंसित हैं। ऋक्संहिता के अनेक मन्त्रों में अंगीरसों के साम की स्तुति की गयी है- **ऋग्रसः ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः।**[14] इसी प्रकार यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी 'साम' स्तुति प्राप्त होती हैं सामवेदीय ब्राह्मणों के अनुसार स्वर ही साम का सर्वस्व है, वही साम का प्रियधाम है, अतएव स्वर युक्त रूप में ही सामगान करना चाहिए- **स्वरेण सम्पाद्य उद्गायेत। एतद् वै साम्नः स्वं यत् स्वरः। स्वेनैवेनत् तत् समृद्धयति। एतद् वै साम्नः प्रियं धाम यत् स्वरः।।**[15]

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन मूल स्वरों पर ही षड्जादि लौकिक स्वरों की स्थापना हुई है-

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभ धैवतो।
स्वरित प्रभवा ह्योते षड्जम षड्जमध्यम पञ्चमाः।।[16]

नाट्यशास्त्र में भी गांधार आदि सप्त स्वरों का वर्णन प्राप्त है-

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पञ्चमो धैवतश्चैव सप्तमोऽथ निषादवान्।।[17]

तीन वैदिक मूल स्वरों में से उदात्त की समानता लौकिक स्वर गान्धार या उसके सम्वादी स्वर निषाद, अनुदात्त की ऋषभ या उसके सम्वादी धैवत तथा स्वरित की षड्ज या उसके सम्वादी स्वर मध्यम या पंचम से की गई है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आधुनिक नाट्य संगीत का आधार सामवेदीय संगीत, सामवेद एवं सामवेदीय संहिता में उस स्थिति पर आरूढ़ हो चुका था जहाँ तन्मयता और परमानन्द की अनुभूति में जन्म-योनि अवस्था और जन्मान्तरीय संस्कारों की विपरीतता भी

बाधक सिद्ध नहीं होती तथा शिशु, पशु और सर्प समान रूप से गान-रस से आप्यायित हो उठते हं।

'रसानाथर्वाणः' उक्ति के अनुसार ब्रह्मा जी ने उपस्थित जन-समूह को अवगत कराते हुए कहा था कि उन्होंने जो यह नाट्यवेद निर्मित किया है, वह देवों, असुरों, दानवों एवं अन्य शुभ तथा अशुभ कर्मों का ज्ञान कराने वाला होगा। इसमें समस्त भावों की अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होगी। इस नाट्य-प्रदर्शन में केवल देवों और अदेवों के भावों का अनुभावन नहीं, वरन् त्रिलोकों के भावों का अनुकीर्तन होगा। भरतमुनि ने अपने अभिमत को व्यक्त करते हुए रस को नाटक का मूल धर्म कहा है। वस्तुतः नाटक चतुर्विध अभिनयों के द्वारा सामाजिकों को रस सिक्त करता है या उनके मन में रस निष्पत्ति करता है। **'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** इस सूत्र वाक्य में रसनिष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव एवं संचारीभावों का संयोग आवश्यक माना है। नाटक के अन्तर्गत रस अन्तःचेतना या जीवनधारा के रूप में माना गया है। विभिन्न आचार्यों ने श्रृंगारादि रसों की संख्या आठ-नौ या दस मानी है। इन सभी रसों का मूल-स्रोत हमारे वैदिक साहित्य में बीजरूप के साथ ही पुष्पित, पल्लवित भी हैं।

अथर्ववेद में पति-पत्नी की प्रेमपूर्ण अभिव्यक्ति दिखाई देती है। यहाँ दोनों के मन एक-दूसरे के साथ मिले हुए हैं। पति-पत्नी आलम्बन हैं, स्थायी भाव रति है। एक-दूसरे को मृदु दृष्टि से देखना उद्दीपन विभाव है। क्रोध और द्वेष का न जगना, मन का असम्पृक्त न होना संचारी भाव है। इस प्रकार इस मंत्र में दाम्पत्य रति द्वारा श्रृंगार रस का निरूपण हुआ है-

अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समजनम्।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति।।[18]

वीर रस के संदर्भ में इन्द्र को वीर रस का आलंबन बनाया गया है। असुर को चीर डालना, विरोधियों को विमर्दित करना उद्दीपन विभाव है और स्थायी भाव उत्साह है-

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि बनस्पतीरसनोदन्तरिक्षम्।
विभेद बलं नुनुदे विवाचो थाभवद् दमिताभिक्रतूनाम्।।[19]

वरूण देव के पापियों पर क्रोध के समय रौद्र रस, युद्ध क्षेत्र में रूधिर की नदियों के प्रवाहित होने, मांस बिखरने आदि के समय वीभत्स रस, वनस्पति रूपी

वरण मणि के वर्णन के समय शशान्त रस का सम्यक् निरूपण अथर्ववेद में प्राप्त हैं इस प्रकार कहा जा सकता है कि अथर्ववेद में समग्र रसों की उपलब्धि है। इसमें लौकिक स्तर पर रस निष्पत्ति के साथ ही साथ अलौकिक ज्ञान तथा स्वर्गिक आनन्द की उपलब्धि को महत्त्व प्रदान करने के कारण अथर्ववेद निर्वेद की चरम स्थिति तक पहुँचता है। काव्यात्मकता के कारण रूपात्मकता के आधार पर नाट्य रस अथर्ववेद में सम्प्राप्त है। वेदों की भाँति रामायण और महाभारत भी संस्कृत नाट्य साहित्य के आधार है। रामायण काल में नाटकों का रंगमंच पर अभिनय होने लगा था। श्रीराम के जन्मोत्सव, विवाहोत्सव आदि के अवसर पर अप्सराओं के नृत्य और गन्धर्वों के गान का उल्लेख मिलता है। श्रीराम के जन्मोत्सव के अवसर पर राजमार्ग पर नट नर्तकों का अपार जन-समूह एकत्रित था- **रथ्याश्च जनसम्बाधा नटनर्तनसंकुलाः।**[20] रामायण कालीन नाटक प्रायः मनोरंजन हेतु सामाजिकों के समक्ष प्रदर्शित किये जाते थे। इस अवसर पर कुछ लोग नृत्य करते थे एवं वाद्य यंत्र बजाते थे। लंकेश्वर रावण की सभा में नाट्य-संगीत, चित्रादि कलाओं के मूर्धन्य आचार्य थे, जो कि नाट्यशाला, संगीतशाला एवं चित्रशालाओं का संचालन करते थे। महाभारत में भी नाट्य सम्बन्धित प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। महाभारत के प्रधान पात्र श्रीकृष्ण नाट्य-संगीतादि कलाओं के अधिष्ठाता देवता माने जाते हैं। श्रीकृष्ण के छालिक्य नृत्य और वेणुवादन के प्रयोग ब्रज बनिताओं द्वारा किये गये। आचार्य नन्दिकेश्वर के 'अभिनयदर्पण' के अनुसार लोक-जीवन में नाट्यवेद की परम्परा का प्रवर्तन ब्रज बनिताओं द्वारा हुआ है। महाभारत में प्रद्युम्न विवाह की कथा के प्रसंग में वासुदेव श्रीकृष्ण के अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर भद्र नामक नट के अद्भुत प्रदर्शन का उल्लेख है, जिससे उपस्थित ऋषियों ने प्रसन्न हो करके उसे नभ में विचरण करने और स्वेच्छया रूप धारण करने का वरदान दिया-

तत्र यज्ञे वर्तमाने सुनाट्यने नटस्तथा।
महर्षीस्तोषयामास भद्रनामेति नामतः।।[21]

इस प्रकार रामायण और महाभारत दोनों ही ग्रन्थ नाट्य विषयक सामग्री के लिए उपजीव्य हैं रामायण की नाट्य सामग्री को लेकर रघुवंश, अविमारक, प्रतिमानाटक जैसे प्रतिष्ठित नाटकों की रचना हुई, वहीं महाभारत से नाट्य-सामग्री लेकर अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय जैसे नाटकों की रचना हुई।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि

आधुनिक नाटक का बीज हमारे वैदिक साहित्य में मौजूद हैं। जो नाटक के तत्त्व मौजूद थे वह नाट्यवेद (नाट्यशास्त्र) के आधार बने और वहीं नाटक के तत्त्व नाट्यशास्त्र की परम्परा से आगे बढ़ते हुए न केवल लौकिक संस्कृत साहित्य अपितु हिन्दी जैसी भाषाओं में लिखे गये नाटकों के आधार बने। इस प्रकार वैदिक साहित्य के साथ लौकिक नाटकों का आधार-आधेय सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है।

संदर्भ -

1. *नाट्यशास्त्र- 1.17*
2. *ऋग्वेद सं.- 10.10.4*
3. *तदेव- 10.95.2*
4. *तदेव- 10.95.3*
5. *तदेव- 10.108.1-2*
6. *तदेव- 3.33.1*
7. *शतपथ ब्रा.- 1.2.2.2-3*
8. *तदेव- 1.1.2.9*
9. *तदेव- 1.3.3.5*
10. *तदेव- 5.4.3.19*
11. *तदेव- 1.4.5.12*
12. *जैमिनि सूत्र- 2.1.3.7*
13. *जैमिनि सूत्र, शाबर भाष्य- 2.1.3.7*
14. *छान्दोग्य उप.- 1.1.2*
15. *जैमिनीय ब्रा.- 1.112*
16. *नारदीय शिक्षा- 1.88*
17. *नाट्यशास्त्र- 28.19*
18. *अथर्ववेद संहिता- 7.36.1*
19. *तदेव- 20.11.10*
20. *रामायण- 1.18.18*
21. *महाभारत- 2.9.26*

8

कर्पूरमंजरी में विहित धार्मिक आस्थाएं एवं महोत्सव

सीमा यादव

महाकवि राजशेखर विरचित कर्पूरमंजरी' सट्टक संस्कृत नाटक साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है। यह नाटक महाकवि राजशेखर की निजी कल्पना मात्र पर आधारित है। नाट्यशास्त्र के नियमों का अनुसरण कर संस्कृत भाषा के स्थान पर प्राकृत भाषा में ही सम्पूर्ण नाटक की रचना ही इसकी विशिष्टता है। कर्पूरमंजरी सट्टक प्राकृत भाषा में लिखा गया है। इसमें महाराष्ट्री और शौरसेनी दो भाषाएं हैं। यह शृंगार रस प्रधान है। कर्पूरमंजरी यह इस सट्टक की प्रमुख पात्र एवं नायिका है। राजा चण्डपाल इसका नायक है। इस सट्टक की सुकोमल भाषा एवं पात्रों के चरित्र का सम्यक् प्रस्तुतीकरण कविराज राजशेखर की निजी कवित्व शक्ति का परिचायक है। इतिहास की दृष्टि से भी कर्पूरमंजरी एक महत्वपूर्ण सट्टक है। इससे संस्कृत नाटक-साहित्येतिहास में पर्याप्त सहयोग प्राप्त होता है। कर्पूरमंजरी के अध्ययन से तत्कालीन समृद्ध संस्कृति का ज्ञान होता है। लोगों की धार्मिक आस्था एवं उपासना पद्धति का पता चलता है। उस समय नृत्य, वादन, गायन इत्यादि कला चरमोत्कर्ष पर थी। विभिन्न उत्सवों में विभिन्न नृत्य कला एवं वाद्य यंत्रों के साथ गायन होता था। कर्पूरमंजरी में विभिन्न पर्व को मनाने का उल्लेख मिलता है। कुछ पर्व सामूहिक एवं भव्य रूप से मनाया जाता था। कर्पूरमंजरी के प्रथम जवनिका के श्लोक सं. 13 से वसंतोत्सव मनाने का उल्लेख है।

प्रथम जवनिका में वैतालिक का कथन है कि वसंतसमारोह विदूषक के लिए सुखदायी हो। राजा का भी राजमहिषी विभ्रमलेखा के प्रति कथन है कि 'तरुणियों में विलास एवं गर्व उत्पन्न करने वाले मलयपवन से आंदोलित लतास्यी

नर्तकियों को नचा देने वाले, कोकिलाओं के कल कण्ठों में मनोरम पंचम स्वर भर देने वाले नव प्रादुर्भूव मदन के धनुर्दण्ड से नायिकाओं के कठोर मान को खंडित करने वाले पृथ्वी रूपी सुंदरी नायिका के स्निग्धबान्धव मधूत्सव को देवी इच्छानुसार आंखे फाड़कर देख ले।[1] देवी विभ्रमलेखा का कथन है कि इस मधुभास में मान छोडों प्रियतम पर तरल कटाक्ष करो, संसार में चैत्रमहोत्सव में पंचशर भगवान् की सर्वजनवर्तिनी आज्ञा कोयल की मधुरकूक के बहाने से प्रसारित कर दी है।[2] कर्पूरमंजरी सट्टक के द्वितीय जवनिका में विदूषक के कथन से पता चलता है कि हिण्डोला चौथ पर्व मनाया जाता था जिसमें गौरी देवी की प्रतिमा बनाकर महारानी जी कर्पूरमंजरी को हिण्डोला पर झुला झुलाएगी।

विदूषक- अज्ज हिंदोलअचउत्थी। ताहिं गोरिं कटुअ ऐवीए कप्पूरमंजरी हिंदोलए आरोद्‌दव्वा। कर्पूरमंजरी में वट सावित्री महोत्सव के मनाने का भी उल्लेख है। चतुर्थ जवनिकान्तरम् में सारङ्गिका महाराज चण्डपाल से निवेदन करती है कि महारानी के आगे चतुर्थी के दिन वटसावित्री महोत्सव के उपकरण केलिविमान पर चढ़कर महाराज देखों-

देवी विण्णवेदि अज्ज चतुत्यदिअहे भविअवदसवित्तोहूइसवोवअरणाइं केलिविमाणं आरूहिअ देवेण...।[4]

तत्कालीन समय में त्रिदेव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की पूजा का विधान मिलता है। साथ ही गौरी देवी, चामुण्डा देवी की पूजा का भी प्रचलन था। तंत्र-मंत्र विद्या भी प्रचलन में थी। तंत्र-मंत्र विद्या के रूप में भैरवानन्द का उल्लेख मिलता है। प्रथम जवनिकान्तरम् में भैरवानन्द के कथन से विष्णु ब्रह्मादि शिव तीनों देवता की उपासना का प्रमाण मिलता है-

मुत्तिं प्रणंति हरिबम्हमुहा वि देवा, झाणेण वेअपढणेण कदुक्किआहिं।
एक्केण केवलमुमादइदेण दिट्ठो, मोक्खे समं सुरअकेलिमुराररसेहिं।[5]

कर्पूरमंजरी सट्टक में भैरवानन्द नामक परमसिद्ध तांत्रिक योगी का उल्लेख है। भैरवानन्द अपनी सिद्धि का स्वयं राजा के प्रति वर्णन करता है-

आकाश में स्थित चन्द्रमा को भी मैं भूतल पर उतार दिखा सकता हूँ, मध्याकाश में स्थित सूर्य के रथ को भी रोक सकता हूँ तथा पक्ष देव सिंह गणों की स्त्रियों को भूतल पर ला सकता हूँ। ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो कि मैं नहीं कर सकता हूँ।[6] राजा विदूषक से कोई अद्‌भुत दृष्टि महिलारत्न बतलाने का आग्रह

करता है। विदूषक राजा चण्डपाल को दक्षिणापथ स्थित वैदर्भ नामक नगर की कन्यारत्न के बारे में बताता है। भैरवानन्द उसे ध्यानावस्थित में स्थित होकर उपस्थित करता है।[7] और भी भैरवानन्द का कथन है-

मंत ण तंतो ण अ किंपि जाणं झाणं च णो किं पि गुउप्पसाद मज्जं पिच्चासो महिलं रमामो मोक्खं च जामो कुतममालम्मा।।[8] अर्थात् भिक्षा मांग कर भोजन करते हैं, चर्मखण्ड पर सोते हैं। ऐसा कुलधम किस व्यक्ति को रम्य नहीं है। हरवल्लभा देवी गौरी की पूजा महारानी विभ्रमलेखा द्वारा की जाती है। द्वितीय जवनिकान्तरम् में विचक्षणा का कथन है- भाइरवाणंददिण्णमंतप्पहावेण देवीभवणुज्जाणे केदई लद्वीए एक्को दाव पसवो दंसिदो। तस्स दोहिं दलसंपुडेहिं अज्ज हिदोलप्पभंजणीए चउत्थीए हरवल्लाहाए देवीए देवी अच्चिदा। अण्णं च दलसंपुडवजुअलं पुण कणि दृवहिणि आए कप्पूरमंजारिए पसारीकिदं।[9] कर्पूरमंजरी के अध्ययन से पता चलता है कि लोग गुरुदीक्षा भी लेते थे। कर्पूरमंजरी के चतुर्थ जवनिकांतरम् में विचक्षणा के कथन में उल्लेख है कि चतुर्दशी के दिन महारानी विभ्रमलेखा ने पद्मरागमणियुक्त गौरी जी की प्रतिमा बनवाकर भैरवानन्द द्वारा प्राण प्रतिष्ठा करवाकर भैरवानन्द से महारानी ने दीक्षा लिया।[10]

तत्कालीन समय तंत्र-मंत्र की देवी रूप में योगियों द्वारा चामुण्डा देवी की पूजा का विधान मिलता है। चतुर्थ जवनिकान्तरम् में भैरवानन्द का कथन है कि प्रलयकाल रूपी क्रीडा भवन में काल के पुराने रक्तरूपी मद्य को ब्रह्मकपालरूपी पान पात्र से पान करती हुई चामुण्डा देवी की जय हो।

कंप्पतकेलिभवणे कालस्स पुरोऽसुराण कहिरसुरं।
जअइ पिअंती चंडी परमेट्ठीकवाल चसएण।।[11]

चतुर्थ जवनिका से यह भी ज्ञात होता है कि सुरंग द्वार पर चामुण्डा देवी का मंदिर था। इस प्रकार सामान्य रूप से संध्यावंदन में विष्णु शिव ब्रह्मा की उपासना प्रचलित थी। साथ ही विशिष्ट लाभ हेतु सिद्ध योगियों का भी आश्रय लिया जाता था जो विशिष्ट व अभिलषित वस्तु की प्राप्ति कराते थे। वे तंत्र-मंत्र विद्या द्वारा व्यक्ति को अभिलषित वस्तु को प्राप्त कराते थे और गुरु दक्षिणा भी प्राप्त करते थे। वे अपने विद्या के प्रसार के लिए लेगें को दीक्षा भी देते थे। नृत्य, गायन, वादन कला में लोग प्रवीण थे। उस समय अनेक वाद्ययंत्रों का भी प्रचलन था। महोत्सव में नृत्य, गायन एवं वादन होता था। अनेक वाद्ययंत्र बजाये जाते थे। स्थापक के कथन में अनेक प्रकार के वाद्ययंत्रों का नामोउल्लेख है-

एसो वंसे ठाविदो ठाणे। ३अं वीणा पडिसारीअदि। इमे तिण्णि वि मिअंगा सव्जीअंति। एस कांसतालाअणं वीणा पडिसारीअदि। उज्जाणं हलबोलो सुणीअदि। एदं धुआगदिं आलवीअदि। हलबोलो सुणीअदि। एदं धुआगदिं आलवीअदि। ता किंपि कुडुंवं हक्कारिअ पुच्छिस्सं।[12] उपर्युक्त स्थापक के कथन में तत्कालीन बांसुरी, वीणा, मायूरी, अर्द्धमायूरी तथा कूर्मरथी के मृदंग ठीक होने का पता चलता है।

चतुर्थ जवनिकान्तरम् के पन्द्रहवें श्लोक में हुडुक वाद्य विशेष बजाती हुई क्रमानुसार चंचल भ्रूलताएं चला चलाकर दासी कर्म करने में संलग्न नर्तकियों का उल्लेख है।

कापि वादितकराल हुडुक्का रम्यमर्दलखेण मृगाक्षी।
भ्रूलताभ्यां परिपाटीभ्यां चेटीकर्मकरण प्रवृत्ता।।[13]

कहीं पर योगिनी रूप में नृत्य का उल्लेख है-

क्षुद्र घंटिकाओं द्वारा रणज्झंण शब्द करती हुई गले के स्वर से नियमित तालों वाली, योगिनियों की समूह नृत्य क्रीड़ा करती हुई नर्तकिया नुपूर ध्वनि कर रही हैं।[14] **वंशीवादन द्वारा नृत्य किया जाता था।**[15] नृत्य शैली का भी उल्लेख है कि विचित्र प्रकार से परिभ्रमण करती हुई 32 नर्तकियां ताल की अनुगति करती हुई क्रीड़ा कर रही है। यह दंडरास सा दिख रहा है।[16]

परिब्भयंतीउ विचिन्तबंधं इमाउ दोसोलह णच्चणीओ।
खेलंति तालागुगदप्पआओ तुहंगणे दीसहि दडंरासो।[17]

कुछ अन्य नर्तकियां अपने कंधों और शिरों को भुजाओं तथा हाथों को एक सन्धि में किए हुए रेखालिखित जैसी दो पंक्तियों में लय तथा तालों का अनुसरण कर नृत्य करती हुयी एक दूसरे के सम्मुख आ जाती हैं।[18] कहीं पर मयूर नृत्य का उल्लेख है- स्याही तथा काजल जैसे काले शरीरों वाली, पैने नयनवाणी मयूर पंख के आभूषण पहने यह कामिनिया पुलिन्द के रूप में लोगों का उपहास कर रही हैं।[19] कहीं पर निशाचरी आकृति बनाकर नृत्य का उल्लेख है- हाथ में नरमांस बलि धारण किये हुए, हुंकार मात्र से श्रृगालों जैसी आवाज करती हुई भयानक दूसरी नर्तकियां निशाचरियों की आकृति बना बनाकर श्मशानभूमि का अभिनय कर रही हैं।[20] कांसे के झांझ, बाजा, ध्रुवपद के आलाप का उल्लेख है। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्पूरमंजरी में धार्मिक आस्थाएं प्रबल रूप में मिलती हैं। लोग शिव, ब्रह्मा, विष्णु की सात्विक रूप में पूजा

करते थे। धर्म एवं समाज के विपरीत आचार पद्धति का अनुगमन करने वाले वाममार्गी शैव उपासक थे जो पंचंमकारों के सेवक थे। गोरा एवं चामुण्डा देवी की उपासना पद्धति भी प्रचलित थी। लोग उत्सव शिष्य थे राजा द्वारा अनेक उत्सव मनाये जाते थे। मधुमास महोत्सव एवं हिण्डोला चतुर्थी मनाया जाता था जिसमें झूला डालकर नायिका इत्यादि झूला झूलती थी। उत्सवों में विभिन्न प्रकार के नृत्य होते थे अनेक वाद्य यंत्रों का वादन एवं गायन होता था। नृत्य इत्यादि सामूहिक एवं वस्तु आधारित होता था। जैसे मयूर नृत्य, श्रृगाल आधारित नृत्य, दंडरास, जलनृत्य इत्यादि। इस प्रकार लोगों की धार्मिक आस्थाएं प्रबल थी। हर्ष एवं उल्लास के साथ विभिन्न महोत्सवों का भी आयोजन किया जाता था।

संदर्भ ग्रंथ

1. *महाकवि राजशेखर कृत कर्पूर मंजरी, प्रथम जवनिकान्तरम् गद्य भाग।*
2. *कर्पूरमंजरी, प्रथम जव. श्लोक सं. 18*
3. *कर्पूरमंजरी, द्वितीय जवनकिान्तरम् गद्य भाग*
4. *कर्पूरमंजरी, चतुर्थ जवनिका गद्य भाग (185)*
5. *कर्पूरमंजरी, प्रथम जवनिकान्तरम् श्लोक सं. 24*
6. *कर्पूरमंजरी, प्रथम जवनिन्तरम् श्लोक सं. 25*
7. *कर्पूरमंजरी, प्रथम जवनिकान्तरम् गद्य भाग श्लोक सं. 26*
8. *कर्पूरमंजरी, प्रथम जवनिकान्तरम् श्लोक सं. 23*
9. *कर्पूरमंजरी, द्वितीय जवनिकान्तरम् गद्य 77*
10. *कर्पूरमंजरी, चतुर्थ जवनिकान्तरम् गद्य भाग पृ. 192*
11. *कर्पूरमंजरी, चतुर्थ जवनि. श्लोक सं. 18*
13. *कर्पूरमंजरी, चतुर्थ जवनिकान्रतम् श्लोक सं. 15*
14. *कर्पूरमंजरी, चतुर्थ जवनिकान्तरम् श्लोक सं. 16*
15. *कर्पूरमंजरी, चतुर्थ जवनिका0 श्लोक सं. 17*
16. *कर्पूरमंजरी, चतुर्थ जवनिका0 श्लोक सं. 10*
17. *कर्पूरमंजरी, चतुर्थ जवनिकान्तरम श्लोक सं. 10*
18. *कर्पूरमंजरी, चतुर्थ जवनिकान्तरम् श्लोक सं. 11*
19. *कर्पूरमंजरी, चतुर्थ जवनिकान्तरम् श्लोक सं. 13*
20. *कर्पूरमंजरी, चतुर्थ जवनिकान्तरम् श्लोक सं. 14*

9

लोकधर्म के उत्कृष्ट निदर्शन : उत्तररामचरितम् के राम

अशोक कँवर शेखावत

उत्तररामचरितम् में भवभूति की नाट्यप्रतिभा सर्वोच्च शिखर पर अभिव्यक्ति पाती है। भवभूति का करुण रस उत्तररामचरितम् में अभिव्यक्त होकर चिरकाल के लिए अमर हो गया। महाकवि भवभूति ने उत्तररामचरित की कथावस्तु का बीज भले ही वाल्मीकि रामायण से ग्रहण किया है, परन्तु उन्होंने जनमंगल को साधने के उद्देश्य से वाल्मीकि रामायण की विसंगतियों को अपनी मौलिक उद्भावनाओं से सुसंगतियों में परिणमित करके न केवल अपने राम को लोकापवाद से बचाया है, सीता को राम से मिलवाया है, छाया सीता की उद्भावना से नवाशा का अंकुर खिलाया है, दुःखान्त को सुखान्त में परिणमित किया है, बल्कि समाज को न्यायोचित पथ का उपदेश भी दिया है। लोक की इसी अन्तश्चेतना से महाकवि भवभूति की अन्तश्चेतना एकाकार हुई है। महाकवि भवभूति यह तो नहीं कहते कि यह प्रसंग घटित ही नहीं हुआ, लेकिन वो राम के हृदय को समझते है तथा उत्तररामचरित मानो राम के भावों की ही अभिव्यंजना है। भवभूति यह प्रतिपादित करते है राष्ट्राराधन के कारण उन्हें सीता को छोड़ना पड़ा, परन्तु इससे सीता के प्रति उनके प्रेम पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं है, बल्कि सीता से वियुक्त होकर राम भी उतने ही व्याकुल हैं।

अपने राम को न्यायसंगत ठहराते हुए वे अन्त में सीता-राम का सुखद समागम प्रतिपादित करते हैं। इस कथावस्तु के लिए भवभूति किंचित मौलिक परिवर्तनों के साथ पद्मपुराण, भास के स्वप्नदर्शन प्रकरण एवं कालिदास के रघुवंशी के चित्रवीथी प्रसंग के ऋणी है। साथ ही कुछ प्रसंग विष्णुपुराण से भी गृहीत है।

पूरे के पूरे उत्तररामचरित की विषयवस्तु का संयोजन राम एवं जनमानस के दृष्टिकोण से किया गया है। भवभूति का चित्रवीथी प्रसंग रामचरित के पूर्व तथा उत्तरकाण्ड का संयोजक है। इस प्रसंग में राम का सीता के प्रति अनन्य अनुराग, निश्शंक दृष्टिकोण, अटूट आस्था, परस्पर निश्छल समर्पण प्रतिबिम्बित होता है। जनमानस आदर्श दम्पत्ती के रूप में राम-सीता की झलक यहाँ प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार छाया सीता की परिकल्पना वियोगी राम के हृदय से जनमानस के साथ-साथ सीता का भी साक्षात्कार करवाते हैं-

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा न तु भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहं न विमुचति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्र्तदाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्।।[1]

अयोध्या के जनसमाज के हृदय को करुणा से विगलित कर देने वाला, सीता के प्रति उनके हृदयों को निर्मल कर देने वाला गर्भाङ्क नाटक भवभूति के उत्तररामचरित का प्राणतत्त्व है, जहाँ सारा मनोमालिन्य करुणा के प्रवाह में बह जाता है, आनन्द की रसधार प्रवाहित हो जाती है। पृथ्वी एवं गंगा सीता की पवित्रता की साक्षी बनती है।

भारतीय संस्कृति अर्द्धनारीश्वर की संकल्पना को प्रतिपादित करती है। यह सम्पूर्ण सृष्टि शिव एवं शक्ति का समायोजन है। स्त्री- पुरुष परस्पर पूरक हैं स्त्री-पुरुष की परस्पर पूरतकता के लिए. शब्द एवं अर्थ का निदर्शन अनुपम है। जिस प्रकार शब्द अर्थ के बिना निरर्थक है तथा अर्थ शब्द के बिना लक्ष्यहीन उसी प्रकार सृष्टि के ये दो उपादान स्त्री-पुरुष भी एक दूसरे के बिना अपूर्ण, अव्यक्त एवं असार है। इसीलिए भारतीय संस्कृति विवाह को एक संस्कार के रूप में स्वीकारती है। विवाह के स्नेह सूत्र में बंधे दम्पत्ती(पति-पत्नी) मिलकर गृहस्थाश्रम में जिस सांसारिक जीवन को जीते हुए संसार के आधार स्तम्भ बनते हैं वह दाम्पत्य जीवन समाज एवं संस्कृति का रचनाकार है। सामाजिक स्थायित्वएवं सांस्कृतिक उत्कृष्टता के लिए दाम्पत्य जीवन का श्रेष्ठ स्वरूप अपरिहार्य है।

उत्तररामचरितम् में भवभूति के राम सीतामय है तथा सीता राममय। सीता निर्वासन से राम के पति स्वरूप को जो क्षति पहुंची भवभूति ने उन्हें पश्चाताप

के आंसूओं से धोकर अन्त में सीता मिलन से उदात्त स्वरूप प्रदान किया है। पूरी उत्तररामचरितम् में राम एवं सीता का परस्पर स्नेह, विलक्षण रूप में अभिव्यक्त है। वाल्मीकि रामायण की सीता की भूमि समाधि को भवभूति ने राम सीता के पुनर्मिलन से सुखान्त स्वरूप देते हुए दाम्पत्य जीवन को अक्षुण्ण बनाए रखा है।

वाल्मीकि रामायण की सीता के साथ अग्नि-परीक्षा एवं अयोध्या से निर्वासन ऐतिहासिक अथवा प्रामाणिक रूप से सिद्ध है अथवा नहीं यह प्रायः विवाद का विषय रहा है, परन्तु साहित्य की दृष्टि से, कवि की दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से, नैतिकता एवं संस्कृति की दृष्टि से और एक पति की दृष्टि से जो होना चाहिए, उसके लिए भवभूति ने एक आदर्श दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। भवभूति के राम सीता के सम्मान एवं गरिमा से सुरक्षित रखते हुए कहते है-

उत्पत्तिपूरितायाः किमस्याः पावनान्तरैः।
तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः।।[2]

वे सीता की उपमा तीर्थ के जल एवं पवित्र अग्नि से करते है तथा जन्म से ही पवित्र सीता के लिए अग्नि परीक्षा अनावश्यक बताते है, परन्तु प्रजारंजन में अनुरक्त मानधनी राजाओं को प्रजा को सन्तुष्ट रखने के लिए स्वयं कष्ट उठाना पड़ता है। राम कहते है कि अग्नि परीक्षा का कष्ट वस्तुतः राम के जीवन का स्वयं का कष्ट है। सीता के शोक से एकाकार होते हुए राम सीता की व्यथा को दूर कर उसे प्रसन्न करने का प्रयास करते हुए कहते हैं-

कष्टं जनः कुलधनैरनुरञ्जनीय स्तन्नो यदुक्तमशिवं नहि तत्क्षमं ते।
नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडितानि।।[3]

सीता से वियुक्त होकर राम की दशा भावविह्वल कर देने वाली है। राम का स्नेह सीता के लिए अनुपम है। सीता वियोग उनके लिए असह्य है। उत्तररामचरितम् में भवभूति यह संकेत देते है कि पूर्व में भी सीता का जब राम से वियोग हुआ था, राम की करुणामय स्थिति से निर्जीव प्रकृति भी रुदन कर उठी थी। रावण के द्वारा सीताहरण के पश्चात राम के विलाप से पत्थर भी रो पड़े। यह करुणा की पराकाष्ठा है कि सहृदयहृदय तो सकरुण हो ही जाते हैं, परन्तु जिनमें संवेदना का अंश मात्र भी नहीं है वे पाषाण भी द्रवित हो जाते है। भवभूति के राम का करुण क्रन्दन दर्शनीय है-

अथेदं रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना,तथावृत्तं पापैर्व्यथयति यथा क्षालितमपि।
जनस्थानशून्ये विकलकरणैरार्यचरितै- रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।।[4]

वज्र को भी दलित कर देने वाले करुणाकर राम सीता निर्वासन के दोषी हो ही नहीं सकते। यदि यह निर्णय राम का है भी, तो जनकल्याणार्थ विवशता का ही परिणाम है, जिसमें सीता की ही तरह राम भी पीड़ित है, व्याकुल है, शोकसंतप्त है, विरहविदग्ध है तथा शोचनीय है। जो राम सीता को घर की लक्ष्मी, नेत्रों के लिए अमृत, सीता के स्पर्श को चन्दन के समान मानते है तथा सीता के विरह को असह्य स्वीकार करते हैं वे राम सीता को निर्वासित करने के दोषी कभी नहीं हो सकते। चित्रवीथी दर्शन के समय सोती हुई सीता को देखकर जो राम के भाव है, वे दर्शनीय है-

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमरया न प्रेमो यदि परमसह्यस्तु विरहः।।[5]

भवभूति के राम के दृष्टिकोण में विवाह एक अत्यन्त दृढ़ स्नेहबंधन है। कोई अवस्था के कारण उस प्रेम को शिथिल नहीं कर सकता। जब राम विवाह में प्रेम व विश्वास को विवाह का मूल सूत्र स्वीकार करते है, तो अपने जीवन सहचर के लिए वन का वरण करने की वो कल्पना भी नहीं कर सकते। राम की प्रेम की आदर्श परिकल्पना दर्शनीय है-

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्वस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं,
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थयते।।[6]

राम का सीता के प्रति प्रेम अगाध है। सीता से वियोग की तो वे कल्पना भी नहीं कर पाते, उस बारे में वे सुन भी नहीं सकते। हम अनुमान लगा सकते है कि प्रजानुरंजन के लिए तथा राजधर्म के पालन के लिए जब उन्हें सीता को छोड़ना पड़ा होगा तो उनका हृदय उस पीड़ा को कैसे सह पाया होगा। चित्रवीथी-दर्शन के समय जब लक्ष्मण सीताहरण के पश्चात् विलाप के स्थान का वर्णन करते हैं तो राम उन्हें बीच में ही रोक देते हैं। राम सीतावियोग के बाद की अवस्था को स्मृति में भी नहीं लाना चाहते, वे सुनना ही नहीं चाहते। देखिए वे क्या कहते है-

.........विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि,
प्रत्यावृत्तः पुनरिव स मे जानकीविप्रयोगः।।[7]

निस्सन्देह राम का सीता के प्रति प्रेम अगाध है। उनकी निष्ठा अटूट है। सीता वियोग उनके लिए अकल्पनीय है, परन्तु यह उनका निजि जीवन है, यह उनका व्यक्तिगत विषय है। राष्ट्रधर्म निज धर्म अथवा पति धर्म से बढ़कर है। राष्ट्र के लिए निजि स्वार्थों का त्याग करना पड़े तो उन्हें कोई संकोच नहीं, परन्तु इसका यह तात्पर्य भी नहीं कि यह उनके लिए आसान है। राम के बिना रहना जैसे सीता के लिए असहनीय है, उसी प्रकार राम के लिए सीता वियोग असहनीय है। सीता के प्रति प्रणय को उन्होंने राजधर्म में बाधक नहीं बनने दिया। आगाध स्नेह होते हुए भी राम के लिये राष्ट्रधर्म ही सर्वोच्च है। वशिष्ठ के द्वारा प्रजानुरंजन का आदेश देते हुए जब कहा जाता है-

''जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धा-स्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम्।
युक्तः प्रजानामनुरंजने स्या स्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः।।''[8]

तब राम अपनी लोकाराधन के उत्कृष्ट भाव को व्यक्त करते हुए राष्ट्राराधन के लिए सीता तक को त्याग देने की बात करते हैं-

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा।।[9]

राम ने वही किया जो राष्ट्र में शान्ति एवं स्थिरता बनाए रखने के लिए उन्हें करना चाहिए था। उन्होंने वह निर्णय लिया जो पत्नी की तुलना में राष्ट्र के लिए हितकारी था। शास्त्रों में इसी मार्ग का आदेश दिया गया है-

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।[10]

स्पष्ट है कि राम ने राष्ट्राराधन के लिए स्वयं के सुख का बलिदान दिया। सीता को निर्वासित करने के पश्चात उन्होंने राजसुखों का भोग नहीं किया, सीता को विस्मृत नहीं किया। राम ने सीता के लिए ही नहीं अपितु स्वयं के लिए भी दुःख का चयन किया। वो भीतर से टूट गये, उनका हृदय टूट गया, तो संज्ञा शून्य होकर कर्त्तव्य पालन कर रहे है। राम की दशा वर्णनीय है-

हा हा देवि! स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः,
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।

सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा,
विश्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि।।[11]

वाल्मीकि से रामचरित्रवर्णनस्वरूपा रामायण को जान लेने वाले भवभूति के लवकुश भी राम के इस दुःख से परिचित है। सीता के बिना राम के लिए सब कुछ दुःखमय ही है। कुश कहते है-

विना सीता देव्या किमिव हि न दुःखं रघुपतेः,
प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति।
स च स्नेहस्तावानयमपि वियोगो निरवधिः,
किमेवं त्वं पृच्छस्यनधिगतरामायण इव।।[12]

भवभूति के वाल्मीकि ने सीता के साथ-साथ राम के अन्तःकरण की पीड़ा को अभिव्यक्ति प्रदान की है। कर्त्तव्य की वेदी पर निज सुख का बलिदान करने वाले, क्षण-क्षण सीता के विरह में बिलखने वाले, स्वयं को निर्मम निष्ठुर मानने वाले, स्वयं को सीता का अपराधी मानने वाले राम की व्यथा को भवभूति ने मार्मिक एवं करुण अभिव्यक्ति प्रदान की है। सामान्य जनमानस राम को पतिरूप में क्षमा नहीं करता, परन्तु भवभूति के राम का पश्चाताप जनमानस को दोलायमान करते हुए उन्हें राम की संवेदनाओं का साक्षात्कार करवाते हैं। राम कहते है-

अपूर्वकर्मचण्डालमयि मुग्धे! विमुंच माम्।
श्रितासि चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमम्।।[13]

राम का जीवन संघर्शमय है। राम ने सदैव मर्यादाओं की रक्षा के लिए, परिवार एवं राष्ट्रकी रक्षा के लिए दुःखों का रास्ता चुना है। सीता-निर्वासन के निर्णयोपरान्त उनके अर्न्तद्वन्द्व का मार्मिक चित्रण भवभूति ने किया है-

''हन्त हन्त, सम्प्रति विपर्यस्तो जीवलोक। अद्यावसितं जीवितप्रयोजनं रामस्य। शून्यमधुना जीर्णारण्यं जगत्। असारः संसारः। काष्ठप्रायं शरीरम् अशरणोऽस्मि। किं करोमि? का गति?''

अथवा-

दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमाहितम्। मर्मोपघातिभिः प्राणैर्वज्रकीलायितं हृदि।।[14]

सीता के वियोग की वेदना, राज्यभार का उत्तरदायित्व, लोकाराधन को निर्विकार रूप से संपादित करते राम सदैव पति के रूप में अपराध बोध से संतप्त

है। गर्भाङ्क नाटक के अन्त में उपस्थित सीता की रक्षा करने वाली तथा सीता के आचरण की साक्षी रही पृथिवी जब अपनी पुत्री सीता के प्रति राम के आचरण से व्यथित एवं आक्रोशित होती है, तब राम सहज एवं क्षमा भाव से अपना अपराध स्वीकार करते है। पृथिवी कहती है-

''पृथिवी-सीतां प्रसूय कथमाश्वसिमि?
सोढश्चिरं राक्षसमध्यवास-स्त्यागो द्वितीयस्तु सुदुःसहोऽस्याः।''[15]

सीता की माता जो प्रश्न उठाती है, वह पूरे परिवार की माताओं का प्रश्न है। भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में विवाह दो व्यक्तियों का नहीं, दो परिवारों का सम्बन्ध है। इस प्रकार किसी को साक्षी बनाए बिना जो राम ने अपनी विवाहिता पत्नी सीता को वन के लिए निर्वासित कर दिया। यह न्यायसंगत नहीं है। पृथिवी कहती है-

भगवति भागीरथि! युक्तमेतत् सर्वं वो रामभद्रस्य?
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
नाहं न जनको नाग्निर्न तु वृत्तिर्न सन्ततिः।।[16]

राम बहुत ही संक्षिप्त में सारे अपराध स्वीकार करते हुए कहते हैं- **''अम्ब पृथिवि, इदृशोऽस्मि।''** महाकवि भवभूति नाटक के अंत में सामाजिक विसंगति को सुसंगति में परिणमित करते हुए सीता की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करते हैं, जनसमाज के दिग्भ्रमित दृष्टिकोण को दिशा देते है, सीता के माता-पिता के हृदय को संतान के प्रति निश्चिंत करते है, सीता के हृदय में राम के प्रति विश्वास एवं स्नेह को प्रतिष्ठापित करते हैं और एक स्वस्थ राष्ट्र एवं जीवन का शुभारम्भ करते है। अरुन्धती का आशीष राम के जीवन का पाथेय है- **''जगत्पते रामभद्र! नियोजय यथाधर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम्। हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिमध्वरे।।''[17]**

इस प्रकार भवभूति 'रम्यारामायणी कथा' को और अधिक रमणीय एवं वरेण्य बनाकरजनमंगलार्थ समर्पित करते है-

पाप्मभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेयं कथा,
माङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गंगेव च।
तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः,
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्।।[18]

संदर्भ सूची

1. *उत्तररामचरितम्, 3.3*
2. *उत्तररामचरितम्, 1.13*
3. *उत्तररामचरितम्, 1.14*
4. *उत्तररामचरितम्, 1.28*
5. *उत्तररामचरितम्, 1.38*
6. *उत्तररामचरितम्, 1.39*
7. *उत्तररामचरितम्, 1.33*
8. *उत्तररामचरितम्, 1.11*
9. *उत्तररामचरितम्, 1.12*
10. *चाणक्यनीति, 3.10*
11. *उत्तररामचरितम्, 3.38*
12. *उत्तररामचरितम्, 6.30*
13. *उत्तररामचरितम्, 1.46*
14. *उत्तररामचरितम्, 1.47*
15. *उत्तररामचरितम्, 7.4*
16. *उत्तररामचरितम्, 7.5*
17. *उत्तररामचरितम्, 7.20*
18. *उत्तररामचरितम्, 7.21*

10

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नाट्य प्रतिभा

श्रीमती मौमिता घोष

संस्कृत नाटक का मुख्य उद्देश्य रस का अवतरण करना है। नाटक का मुख्य उद्देश्य कौशल की भाषा को समझना है। लोकप्रिय प्रचार के अनुसार, ब्रह्मा नाट्यपद्धति के पहले प्रवर्तक हैं। भरतऋषि ब्रह्मा की व्यवस्था का पालन करते हुए वन में ऋषियों को शिक्षा देकर नाट्यशास्त्र का प्रचार करते हैं। इंद्र की सभा में प्रदर्शन के लिए इंद्र, उर्वशी और मेनका को नाट्य नृत्य और नृत्त की शिक्षा देते हैं। भरत पृथ्वी पर नाट्य के प्रथम रचयिता हैं, इसलिए नाटक का नाम भरतसूत्र है। नट का नाम भरतपुत्र है, भरत के नाट्यशास्त्र में नाटकप्रकरण का परिचय मिलता है। जो रसात्मक वह वाक्यार्थ अभिनय प्रधान है, जो भावाश्रय वह पदार्थ अभिनयात्मक है, नृत्य भावाश्रय और नृत्त रसाश्रय है, दोनों नाट्य के उपयोगी उपकरण हैं। रस को उनके द्वारा आनंद उपलब्धि के रूप में दर्शाया गया है, गद्य में उन्होंने कहा- न हि रसादृते ते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

नाट्य का लक्षण

दशरुपक में धनंजय ने नाट्यलक्षण की विशेषताओं की व्याख्या की है

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्[1]

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन
वाचिकाङ्गिकसात्त्विकाहार्यरूपेण तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्। इति

नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि के मत में मनुष्य की सहज प्रवृत्ति का सार्थक अनुकरण नाट्य है। **नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकं लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्।**[2] इति

त्रिलोक के भावात्मक समुच्चय का सफल अनुकरण नाट्य है

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।[3]

नाट्य शब्द का उत्पत्ति नट् धातु से बना है जो रस का आश्रय है। नाट्य में दृष्टि और श्रवण दोनों के विषय में सात्त्विक अभिनय का प्रभुत्व है। जहां वाक्यार्थ के अभिनय पर कार्य किया जाता है। इसलिए भट्टसिंह की संक्षिप्त टिप्पणी में यद्यपि विभावादयस्तैरतिशयोक्त्यादिभिः प्रतिपाद्यमाना वाक्यार्था एव न पदार्थाः। तथापि तेषां संयोगाद् रसोत्पत्तेः ते तं प्रति पदार्थीभावं भजन्ते।

रसोऽपि तदुत्पाद्यः वाक्यार्थीभवति। अतो वाक्यार्थीभूतरसविषयं नाटकादि।[4]

साहित्यदर्पण में नाटक के लक्षण मिलते हैं

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम्, विलासद्धर्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः।
सुखदुःखसमुद्भूतिः नानारसनिरन्तरम्, पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्, दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः।
एक एव भवेदङ्गी श्रृङ्गारो वीर एव वा, अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भूतः।
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपुरुषाः, गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्।[5] **इति**

प्रतिभा का लक्षण

सभी शब्दार्थ लेखक काव्य की रचना नहीं कर सकते हैं, लेकिन वे प्रतिभा के साथ काव्य की रचना कर सकते हैं। भामह के अनुसार, काव्य और काव्य प्रतिभा दोनों के बीच एक प्रकार का कार्य-कारण भाव प्रतीत होता है। काव्यालंकार में भामह कहते हैं। **काव्यं तु जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।**[6] दण्डी के अनुसार काव्य कि नैसर्गिकी प्रतिभा, शास्त्रों का अध्ययन और अभ्यास इन तीनों को समुदित रूप से काव्य का हेतु बताया गया है। स्वभाव सिद्ध प्रतिभा पिछले जन्मों के संस्कार से सुधार करके दिया गया प्राकृतिक ज्ञान है। उनके अनुसार इस प्राक्तन संस्कार से सुधारवादी सरल प्रतिभा जैसे कालिदास आदि में है, उसकी अनुपस्थिति में भी, शास्त्रों के अध्ययन और अभ्यास के माध्यम से देवताओं की उपासना से प्राप्त होने वाली प्रतिभा को कवि बना सकता है। काव्यादर्श में कहते हैं। **न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनंगुणानुबंधिप्रतिभानमद्भुतम। श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।**[7] इति

अलंकारकारी वामनाचार्य ने अपने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में तीन कारण प्रस्तुत किया। लोक, विद्या और प्रकीर्ण। इस खंड में प्रतिभा का व्यापक उल्लेख है। वामन काव्यालंकरसूत्रवृत्ति में कहते हैं- **कवित्वबीजं प्रतिभानम्। कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजं जन्मान्तरागतसंस्कार-विशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वाहासायतनं स्यात्।**[8] इति

कवित्व लोकोत्तरवर्णना में निपुण होता है। प्रतिभा रचनात्मक, कल्पनाशील वासनात्मक शक्ति है। आचार्य मम्मट जो ध्वनिवाद के अनुयायी थे, समुदित में शक्ति, निपुणता और अभ्यास को काव्य के तीन कारण कहते हैं, यह शक्ति है प्रतिभा। काव्यप्रकाश में- **शक्तिः कवित्तबीजरूपः संस्कारविशेषः**[9]**।** अलंकारिक यायावरीय राजशेखर टिप्पणी करते हैं कि प्रतिभा काव्य रचना का मुख्य कारण है, लेकिन व्युत्पत्ति और अभ्यास अप्रत्यक्ष कारण हैं। राजशेखर का कथन है कि प्रतिभा के प्रकट होने के लिए समाधि और अभ्यास आवश्यक है। समाधि और काव्य के अभ्यास से शक्ति प्राप्त होती है। और जिस व्यक्ति में यह शक्ति होती है, उसमें प्रतिभा प्रकट होती है। राजशेखर काव्यमीमांसा में कहते हैं-

सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः।[10]

यह हेमचंद्र के काव्यानुशासन में कहा गया है- प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। आलंकारिक कुन्तक का निर्णय यह था कि प्रतिभा का उद्भव केवल प्राक्तन संस्कार के कारण नहीं हुआ था। इस प्रतिभा का विकास प्राक्तन तथा अद्यतन दोनों संस्कारो से होता है। वक्रोक्तिजीवित में कहा है -

प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः ।[11]

आलंकारिक विश्वनाथ कविराज का मानना था कि रत्यादि के विना रस का आस्वाद नहीं आता है। वासना आनंद के लिए है। इसे इदान्तना और प्राक्तनी में बांटा गया है। वासना रखने वाले सभ्य लोगों में रस का आस्वाद होता है। विना इच्छा के सभ्य लोग अखाड़े की लकड़ियों, नींवों और पत्थरों के समान विनोदी होते हैं। साहित्य दर्पण मे-

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्।
वासना च इदानीन्तनी च प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः ।[12] इति

आलंकारिक पंडितराज काव्य के हेतु के लिए केवल प्रतिभा को मानते हैं, उन्होंने व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का हेतु कहा है। उनके अनुसार प्रतिभा के

दो कारण हैं - देवता या महापुरुष से उत्पन्न अदृष्ट, विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास का आनंद। रसगङ्गाधर में- **तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्य-करणाभ्यासौ।**[13] इति

पहली सहज प्रतिभा है जो जन्मसिद्धा है, दूसरी है उत्पद्या प्रतिभा जो विभिन्न शास्त्रों के विविध ज्ञान और निरंतर समर्पित अभ्यास के कारण प्रतिभा है।

महाकवि कालिदास की प्रतिभा

महाकवि कालिदास की प्रतिभा जो जन्मसिद्ध या देवताओं या महापुरुष की कृपा से पैदा हुई है और महाकवि भारवि की प्रतिभा है उत्पाद्य प्रतिभा यानी बहु-विषयक ज्ञान और निरन्तर अभ्यास की प्रतिभा है। यद्यपि महान् कवियों की सहज प्रतिभा ही काव्य का आधार है फिर भी प्राचीन कवियों के द्वारा लिखा गया काव्य का अभ्यास उस प्रतिभा के सुधार में अपरिहार्य है। महाकवि कालिदास ने अपने पूर्ववर्तियों का निबन्ध समूह अनुशीलन करके नैसर्गिक प्रतिभा का संस्कार साधन किया। ऋषि कवियों के द्वारा रचित दो महाकाव्य रामायण और महाभारत सभी कवियों का उपजीव्य है। दो महाकाव्य ने भारतीय काव्य समुदाय की कविता और कल्पना को हवा दी है, विशेष रूप में वाल्मीकि के रामायण का प्रभाव, जिसने विशेष रूप से कालिदास की प्रतिभा को आकार दिया है। शब्द संगठन उपमा के चयन और कल्पना के लिए महाकवि कालिदास प्रारंभिक कवियों के ऋणी हैं। उपमा की नवीनता और उत्कृष्टता उनके गीतिकाव्य में प्रकट हुआ है। मेघदूतम् में निर्वाचित यक्ष का उल्लेख उत्तरमेघ खण्ड में बिछड़े हुए प्रियतम के वर्णन में मिलता है। रामायण के किष्किंधा कांड में वानर राजा बली को रामचंद्र ने धनुष से मारा और वे मुक्ति की अवस्था में जमीन पर गिर पड़े।

न त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम्।
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम्।।[14]

अर्थात् आप धर्मध्वज अधर्मी निन्दक और अविश्वसनीय हैं।

महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के पांचवें अंक में राजा दुष्यन्त के प्रति प्रत्याख्यानजनित शकुन्तला की उक्ति में उपमा का प्रयोग किया गया है। **क इदानीम् अन्यः धर्मकञ्चुकप्रवेशिनः तृणाच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।।**[15]

आपके जैसा और कौन है जो धर्म का परिच्छद पहनकर तृण से ढके कुओं की तरफ आप का अनुकरण करेगा।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में काव्य प्रतिभा

अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में पांचवें अंक में हंसपदिका का सुमधुर गीत सुना गया है अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम...यहां पर व्यंजना मिलती है सकृतकृतप्रणयोऽयं जनः, चातुर्य से राजर्षि दुष्यंत को तिरस्कृत किया है। गीत को सुनकर राजा दुष्यंत के अंतःकरण में इष्टजन के विरह न रहने पर भी अनिर्वचनीय उत्कण्ठा जागृत हुई है। दुर्वासा के अभिशाप के कारण से शकुन्तला को स्मरण नहीं कर पाया, शकुन्तला प्रत्याख्यान का बीज इस गीत पर ही निहित है। पांचवें अंक में एक श्लोक मिलता है।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्य्युत्सुको भवति यं सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्व
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।।[16]

देखा जाता है कि हर दृष्टि से सुखी व्यक्ति यदि किसी सुन्दर वस्तु को देखकर और गीत आदि सुनकर सुखी होने के स्थान पर दुःखी होता है, तो वहां हृदय में वासना के रूप में जन्मान्तर के प्रणयादि सम्बन्ध स्मरण होते हैं। रघुवंश में-

संस्कारा प्राक्तना इव।[17] **मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम्।**[18]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के मत में सहृदयगण का रत्यादि स्थायीभाव विभाव अनुभाव तथा संचारीभाव द्वारा व्यक्त होकर रसता को प्राप्त होता है। रस मूलतः आस्वादस्वरूप होता है।

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्।
वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः।[19]

वेद अभ्यास और शास्त्र चिंतन के माध्यम से इन्द्रियों के चित्तवृत्ति निरोध से वासना का क्षय हो सकता है। चर्वणा आस्वादन है, काव्य का अर्थ ज्ञान के हेतु आत्मानंद उद्भव का स्वाद है। मम्मटाचार्य के काव्यप्रकाश में सद्यः परनिर्वृतये इत्यत्र आनंद का स्वाद सर्वश्रेष्ठ काव्यप्रयोजन है, कान्तासम्मित उपदेश भी काव्यप्रयोजन में मिलता है। महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तलम् पर

कान्तासम्मित उपदेश में उपमा और सार्थक शब्दचयन हृदयाह्लादकारी व्यंजना मिलती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम के प्रथम अंक में-

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।[20] इति

स्वभाव सुन्दर कमल, शैवाल से ढके होने पर भी मनुष्य का नेत्ररंजन करता है, शशचिह्न, मलिन होने से भी चन्द्र का सुषमा वर्धन करता है। तपोवन की शकुंतला छाल के कपड़े पहनकर भी अपनी सुंदरता में एक सुंदरमनोरम दृष्टि आकर्षित करती है। कुमारसंभवम् के पांचवें श्लोक में भी इसी तरह की अभिव्यक्तिपूर्ण कहावत मिलती है- **न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजम् सशैवला सङ्गमपि प्रकाशते।**[21] कमल न केवल भृंगों द्वारा बल्कि शैवाल के साथ मिलकर भी सुंदर होता है। राजा दुष्यंत के इस शब्द से शकुंतला के प्रति उनके रतिभाव का पता चलता है, जो शृंगार रस का स्थायीभाव है। आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक में महाकवि कालिदास की असाधारण प्रतिभा को भी व्यक्त किया है-

तद् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्रः पञ्चशा वा महाकवय इति गण्यन्ते।[22] इति

अलोकसामान्य प्रतिभाविशेष का अर्थ है अपूर्ववस्तुनिर्माण में सक्षम प्रज्ञा, प्रतिभा की विशेषता है- **रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम्,**

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नाट्य प्रतिभा।

नाट्य प्रदर्शन के पूर्व में विघ्नशान्ति के लिए कुशीलवगण में मंगलाचरण निश्चित करता है जिसको पूर्वरंग कहा जाता है। साहित्यदर्पण में-

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्ग स उच्यते।।[23]

नाटक के प्रारंभ में शुभ कर्मकाण्ड का विधान अभिज्ञानशाकुंतलम् नाटक में महाकवि कालिदास ने नंदी में मंगलाचरण के रूप में अष्टमूर्तिधर महादेव की स्तुति की। मालविकाग्निमित्रम् तथा विक्रमोर्वशीयम् में नान्दी श्लोक में भी

अष्टमूर्ति शिव का वर्णन मिलता है। वहां महाकवि कालिदास की प्रतिभा ने नान्दी में शिव भक्ति का अनूठा प्रदर्शन देखा है। भरतनाट्यशास्त्र में नान्दी के लक्षण

नान्दीकृता मया पूर्वमशीर्वचनसंयुता।
अष्टाङ्गपदसंयुक्ता प्रशस्ता वेदसम्मता।।[24]

पंचसंधि नाटकों के वस्तुविकास और रसाभिव्यक्ति का स्तर है। साहित्यदर्पण में- **अन्तरेकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति।**[25] इति

अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में विदूषक चरित्र अंकन में महाकवि कालिदास के प्रतिभा ने सार्थक परिणति लाभ किया। हास्यरस परिवेशन में और नाटकीय प्रयोजन में नाटक का उद्देश्य में उल्लेखनीय रूप से समन्वित और सामंजस्यपूर्ण था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में दूसरे और छठे अंक में विदूषक का प्रधान रूप में उपस्थित दिखाया गया है, पांचवें अंक की सूचना में मंच पर भी उपस्थित है। आश्रम बाला के ऊपर दुष्यंत की प्रशंसनीय उक्ति सुनकर विदूषक ने व्यंग्यात्मक रूप से कहा- **यथा कस्य अपि पिण्डखजूरैः उद्वेजितस्य तिन्तिल्याम् अभिलाषो भवेत्, तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयम् अभ्यर्थना।**[26]

जब वक्ता भाषण का इस तरह से उपयोग करता है कि वह कुछ अन्य अर्थ देता है जिसे केवल विशेष समझने वाले ही समझ सकते हैं, इसे व्यंग्य कहा जाता है। वही अर्थ अलंकार द्वारा माना जाता है जैसे अन्य भाषण, मिश्रित भाषण, और वही व्यंग्यात्मक अर्थ विपरीत विशेषताओं में प्रचलित है। शकुंतला को आश्रम के पेड़ को पानी देते देखकर दुष्यंत कहते हैं- **इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः तपःक्षमं साधयितुं यः इच्छति। ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेतुमृषिर्व्यवस्यति।।**[27] इति

वहां पर कहां गया है नीलोत्पल पत्रों से शमी की शाखा का जैसे छेदन नहीं किया जाता वैसे ही अतिकोमल शकुन्तला के द्वारा सुकुमार तनुपः क्लेश सहना असम्भव है। वहां पर वाक्यों के दो अर्थों के बीचअभेद सम्बन्ध वाधित होकर अन्तिम में उपमानोपमेय भाव तथा बिम्बप्रतिबिम्ब भाव में पर्यावसान होता है, अनेक वाक्यगत वहाँ असम्भव वस्तु सम्बन्धा निदर्शना अलंकार हुआ है। राजा दुष्यंत के प्रति इस सहानुभूतिपूर्ण और करुणामयी वाणी से शकुंतला के प्रति उनका रतिभाव प्रकट होता है, जो शृंगार रस को व्यक्त करता है।

नाटकीय विषयवस्तु की परिकल्पना तथा उपस्थापना में नाट्य तथा कवि प्रतिभा सुस्पष्ट रूप में परिस्फुट हुई है। संस्कृत नाट्यतत्त्व के अनुसार अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के प्रस्तावना से आरम्भ करके नाटक के परिसमाप्ति में भरतवाक्य तक सर्वत्र नाट्यकला तथा नाट्यरीति का यथार्थ प्रयोग अभिज्ञानशाकुन्तल में देखा गया है। नाटकीय परिवेश की सृजनशैली, भावनात्मक गहराई में हृदयस्पर्शी रही है। पांच सन्धि के तरफ आख्यान वस्तु का उपादान भी पंच है, यथा बीज बिन्दु पताका प्रकरी और कार्य, इन सभी को अर्थ प्रकृति अर्थात् प्रयोजन सिद्धि का हेतु कहा जाता है। पुनः फल के सिद्धि की लिए जो कार्य आरब्भ होता है उसको पांच अवस्था कहा जाता है यथा आरम्भ प्रयत्न प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागम। पांच अवस्था और पांच अर्थप्रकृति क्रम से पांच सन्धि के आश्रय से आत्मप्रकाश करते है। पांच सन्धि है नाटक का- मुख प्रतिमुख गर्भ विमर्श और उपसंहृति विचिन्तयन्ती यमन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्.. जहां पर दुर्वासा के श्राप से क्रोध भाव से रौद्र रस प्रकट होता है। ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुर्नुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टि... जहां पर दूर भागते हुये मृग के वर्णन में भयानक रस का समावेश होता है। छठे अंक में चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका... जहां पर राजा से वसन्तोत्सव वर्जित होने से विप्रलम्भशृंगार व्यक्त होता है। शान्तमिदमाश्रम द्वारं स्फुरति च वाहु... जहां पर नाटक का बीज उठने से मुखसन्धि, दूसरे अंक में दुष्यंत का विदूषक के प्रति उक्ति माधव्य अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि.. जहां पर इस उद्धरण के साथ मृगया वृत्तान्त को दबा कर प्रेम का विषय प्रकट होने से विन्दु का अर्थप्रकृति हुआ है और नायिका को प्राप्त करने के प्रयास में प्रयत्न नामक अवस्था दिखाई जाती है, इस भाग से तीसरे के अन्त तक प्रतिमुख सन्धि है। इस तरह नान्दी प्रस्तावना पंचसन्धि अर्थप्रकृति पंच अवस्था पताकास्थान प्रभृति नाट्यशास्त्रसम्मत प्रणाली का अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में भली प्रकार व्यक्त हुई है।

संदर्भ -

1. *दशरूपकम् 1.4*
2. *भरतनाट्यशास्त्रम् 1.109*
3. *तदेव 1.106*
4. *धनिकता अवलोकवृत्तिः*

5. *साहित्यदर्पणम् 6.7-11*
6. *काव्यालंकारः 1.5*
7. *काव्यादर्श 1.104*
8. *काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1.3.16*
9. *काव्यप्रकाशः 1.3*
10. *काव्यमीमांसा 4.2*
11. *वक्तोक्तिजीवितम् 1.74*
12. *साहित्यदर्पणम् 3.8*
13. *रसगङ्गाधरः1*
14. *रामायणम् किष्किन्ध्याकाण्डः 17.21*
15. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 5*
16. *तदेव 5.2*
17. *रघुवंशम् 1.20*
18. *तदेव 7.15*
19. *साहित्यदर्पणम् 3.8*
20. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1.18*
21. *कुमारसम्भवम् 5.9*
22. *ध्वन्यालोक लोचनटीका 1.6*
23. *साहित्यदर्पण 6.22*
24. *भरतनाट्यशास्त्रम् 1.57*
25. *साहित्यदर्पणम् 6.75*
26. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2*
27. *तदेव 1.17*

11

अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटक में प्रशासनिक व्यवस्था

अम्बरीश

कालिदास ने अपने नाटक अभिज्ञानशकुन्तलम् में राजा दुष्यंत के पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण को चित्रित किया है, जो संस्कृत रंगमंच की दुनिया में यादगार है। राजसभा का वर्णन, मंत्री की भूमिका, राजा का समय निर्धारण, न्यायसभा, राज्य और जनता के प्रति राजा के कर्तव्य, राजा द्वारा ऋषियों और ब्राह्मणों का स्वागत, करप्रणाली, व्यापार एवं वाणिज्य, जासूसों को नियुक्त करना, बलिदान और प्राचीन नियम, राज्य की कानून व्यवस्था। प्रशासन के महत्त्व को दिग्दर्शित करता है। निष्पक्ष राज्य चलाने में प्रशासन अग्रणी भूमिका निभाता है। प्रशासनिक कार्य केवल समस्या का समाधान नहीं है। अपितु विभिन्न नीतियों के माध्यम से राज्य को सुरक्षित रखना और लोगों के कल्याण के बारे में सोचना है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ कौटिल्य ने अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में कहा है कि जब तक राज्य की रक्षा नहीं की जाती तब तक उसका कल्याण नहीं हो सकता है। महाकवि कालिदास ने अपने नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' में राज्य की रक्षा और प्रजा की रक्षा के लिए राजा को प्रजानुरंजक कहा है। राज्य चलाने में राजा दुष्यंत को हमने हमेशा प्रशासन और लोक कल्याण के मामले में कानून और सिद्धांतों में विश्वास करते देखा है। राजा होने के नाते और अपनी सुख-सुविधाओं के बारे में न सोचते हुए, उन्होंने हमेशा अपनी प्रजा के बारे में सोचा हैं। व्यापारी धनमित्र के मामले में राजा दुष्यंत के शासन का उदाहरण आज भी स्मरणीय है।

राजसभा का वर्णनः

राज्य चलाने के लिए राजसभा की जरूरत होती है। क्योंकि जिसके

माध्यम से प्रजा अपनी समस्या राजा के सामने रख सकती थी। राजा राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है। उस राज्य के भीतर मंत्रियों और शाही सलाहकारों को भी नियुक्त किया जाता है। क्योंकि राज्य को चलाने में राजा के साथ-साथ मंत्रियों का भी पर्याप्त योगदान होता है। पंचम अंक में शकुंतला के आने पर जब राजा उसे पहचान नहीं पाता है और उसे उपपत्नी रूप में लेने के लिए पाप मानकर अस्वीकार कर देता है। तब पुरोहित ने उसे शकुंतला के पुत्र होने तक प्रतीक्षा करने के लिए कहता है क्योंकि पहले यह भविष्यवाणी की गई थी कि राजा दुष्यंत का एक गुणी पुत्र होगा। फिर उसने पुरोहित की बात मान ली, इससे पता चलता है कि वह न केवल अपने बारे में सोचता है बल्कि लोगों के बारे में भी सोचता है और पुरोहित की बात को सम्मान के साथ स्वीकार करता है। इस उदाहरण से यह माना जा सकता है कि वह मंत्री के साथ-साथ राज्य सभा के प्रत्येक सदस्य को समान सम्मान देता था। जिससे वह कुशलतापूर्वक राज्य चलाता था।

मंत्री की भूमिका :

राजा के प्रशासन व्यवस्था में मंत्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। यदि किसी राज्य में प्रशासन रथ है तो रथ राजा और मंत्री पहिया है। जिस प्रकार एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार प्रशासन में मंत्रियों के अभाव में राजा नहीं चल सकता। अतः प्रशासन, संविधान, विधायिका में, न्यायपालिका में मंत्री की भूमिका अपरिहार्य है। इस नाटक में हम मंत्री आर्य पिशुन को राजा दुष्यंत के दाहिने हाथ के रूप में देखते हैं। जब राजा दुष्यंत शकुंतला की चिंता के कारण राज्य चलाने में असमर्थ थे, तो उन्होंने मंत्री आर्य पिशुन को सार्वजनिक मामलों के कार्यभार का दायित्व संभालने के लिए दिया था। सप्तम अंक में जब इंद्रदेव ने मदद के रूप में असुरों से लड़ने के लिए स्वर्ग को आमंत्रित किया, तो राजा दुष्यंत ने उनकी अनुपस्थिति में राज्य के मामलों की देखभाल के लिए आर्य पिशुन को अपना मंत्री नियुक्त किया था।

कालिदास अपने नाटक में समय को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

राजा का समय निर्धारणः

समय राजा के प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। कुशल प्रशासन चलाने के लिए एक राजा को अपना समय विभाजित करना चाहिए। जिससे राजा को प्रशासनिक कार्य करने में सुविधा होती है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दिन

और रात को आठ भागों में विभाजित किया है और प्रत्येक भाग में किए जाने वाले कुछ कर्तव्यों को निर्दिष्ट किया है। समय के महत्व बारे कालिदास के नाटकों में भी देखा जाता है, जिन्होंने राजाओं के लिए दिन और रात का कार्यक्रम निर्धारित किया। आमतौर पर नहाने, खाने और मनोरंजन के कार्यक्रम के अनुसार इस नाटक में हम राजा दुष्यंत के स्नान करने और खाने की अवधि के बारे में जान सकते हैं। षष्ठ अंक में फिर से देख सकते हैं। दिन के पहले और दूसरे घंटे केवल उनके राज्य के प्रशासन और लोक कल्याण के लिए निर्धारित किए गए थे। इससे पता चलता है कि नाटक में समय का बहुत महत्व है। समय की कमी के कारण राजा को अपना सारा काम शीघ्र पूरा करना पड़ता है। मंत्री पिशुन को समय दिया गया ताकि सब कुछ समय पर किया जा सके।

न्याय सभाः

राज्य को चलाने के लिए विशिष्ट न्यायसभा की आवश्यकता होती है। जहाँ अदालत हमेशा निष्पक्ष होती है। 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' नाटक में अदालत का दृश्य है जहां शकुंतला, माता गौतमी, शार्ङ्गव और शारद्वत उनके साथ राजा के पास न्याय के लिए आते हैं। राजा के दरबार में मंत्रियों, विद्वान् ब्राह्मणों और शाही दरबार में स्वयं राजा की उपस्थिति से पता चलता है कि कालिदास के नाटक में शाही दरबार, मंत्री और राजा द्वारा एक साथ चलाया जाता था। फिर पंचम अंक में हम देखते हैं कि जब मछुआरा रत्न जड़ित अंगूठी बेचने जाता है, तो नगर रक्षी उसे पकड़ लेता है और खबर राज्य के नगरप्रधान राजश्यालक के पास जाती है। वह मछुआरे को शाही दरबार में ले गया। राज्य के अन्य रक्षकों ने सोचा कि यह एक कठोर दंड होगा लेकिन बदले में जेलर को एक रत्न जड़ित अंगूठी के बराबर धन प्राप्त हुआ और नगर रक्षक राजश्यालक का विशेष मित्र बन गया। जिस तरह गलत काम करने पर सजा मिलती थी, उसी तरह अच्छे काम करने पर इनाम भी मिलता था। जब हम यह भी देखते हैं कि राजा दुष्यंत को जब पता चला कि समुद्र में व्यापार करने वाला व्यापारी धनमित्र एक जहाज की तबाही में लापता हो गया। राजा ने फैसला सुनाया कि अजन्मा बच्चा उसके पिता की संपत्ति का मालिक होगा। यह राजा दुष्यंत का महान् निर्णय था, जिसे सभी प्राचीन विधि निर्माताओं ने स्वीकार किया। 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' नाटक में कहा गया है –''ननु गर्भः

पितृरिक्थ मर्हति''[1] अर्थात् जिस राज्य में राजा दुष्यंत रहते थे, उसकी अदालत और न्याय व्यवस्था बहुत अच्छी थी।

राज्य और जनता के प्रति राजा के कर्तव्य

यह अर्थशास्त्र का एक मौलिक सिद्धान्त था कि लोगों की सरकार को दमनकारी या कमजोर नहीं होना चाहिए। तो इस दृष्टि से कौटिल्य में कहा है– ''तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनीयः। मृत्युदण्ड परिभूयते। यथार्हदण्डः पूज्यः।''[2] राजा दुष्यंत हमेशा अपने से पहले अपनी प्रजा के बारे में सोचते थे। क्योंकि एक बड़ा पेड़ सूरज की सारी गर्मी झेल सकता है और छाया प्रदान कर सकता है। इसी प्रकार राजा दुष्यंत प्रजा को सभी प्रकार की समस्याओं से मुक्त करने का प्रयास करते हैं।

राजा द्वारा ऋषियों और ब्राह्मणों का स्वागत

प्राचीन भारतीय समाज में साधु और ब्राह्मण अत्यधिक सम्मानित स्थान में रहने वाले व्यक्ति थे। मनु के अनुसार -

''ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव वा''[3]

अर्थात् राजा के अनुसार एक ब्राह्मण को अपनी तपस्या और अध्ययन के प्रति जागरूक होना चाहिए, एक क्षत्रिय को अपने स्वास्थ्य और शरीर के प्रति, एक वैश्य और एक शूद्र को अपने कल्याण और शारीरिक स्वास्थ्य के प्रति जागरूक होना चाहिए। महाकवि कालिदास के नाटक में, राजा ने स्वयं शकुंतला का अपने दोस्तों के साथ परिचय करवाया, क्योंकि राजा एक अज्ञात आगंतुक अतिथि के रूप में था। इस बीच राजा ने उनकी तपस्या और भक्ति के बारे में पूछताछ की क्योंकि ऋषियों से पूछताछ करना एक राजा का मुख्य कर्तव्य है। फिर नाटक में राजा दुष्यंत ऋषि कण्व के शिष्य का अत्यंत सम्मान के साथ स्वागत करते हैं और भिक्षुओं के बारे में पूछताछ करते हैं। उनके पुरोहित आर्य सोमरात ने वैदिक तरीके से ऋषियों की अगवानी की। एक पुरोहित का ऋषियों के समान स्थान है। हिंदू संस्कृति में पुरोहित राजा के प्रशासन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कण्व आश्रम में कण्व के शिष्यों के साथ अपनी पहली मुलाकात पर, दुष्यंत ने उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। ऋषियों और ब्राह्मणों के स्वागत का वर्णन नाटक में किया गया है। नाटक के सप्तम अंक में जब राजा दुष्यंत दिव्य युगल ऋषि मारीच और अदिति को

प्रणाम करने जाते हैं, तो राजा महापंथ से कहते हैं, मैं इंद्र का मित्र, आप दोनों को नमन करता हूँ।

करप्रणाली

करव्यवस्था की दृष्टि से आम लोग अपनी उपज का छठा भाग कर के रूप में राजा को देते थे, इसलिए पंचम अंक में कहा गया है- ''षष्ठांशवृत्तेरपि एष धर्मः''[4] वनवासियों ने यह जानकर राजा के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की कि वे मुनियों की तपस्या के संचित पुण्य के छठे भाग को कर के रूप में पाने के अधिकारी हैं, इसलिए दूसरे नंबर में कहा गया है-

''यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददात्यारण्यका हि नः।।''[5]

यह राजा दुष्यंत के राज्य की कर और राजस्व व्यवस्था है।

व्यापार एवं वाणिज्य

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में आभ्यन्तर के साथ-साथ भारत के बाहर व्यापार और वाणिज्य को चित्रित किया गया है। नाटक के प्रथम अंङ्क में देख सकते है –''चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य''[6] में हमें चीनी कपड़े का उल्लेख मिलता है। इस नाटक में अंतर्देशीय व्यापारी धनमित्र का नाम आता है और उसका व्यापार पूरे देश में फैल गया। छठी आकृति में मैंने मछुआरे को देखा, वह नदी में मछलियाँ पकड़कर और उन्हें बाजार में बेचकर अपना जीवनयापन करता था। इन उल्लिखित उदाहरणों से हम अप्रत्यक्ष रूप से दुष्यंत के साम्राज्य में व्यापार और वाणिज्य की स्थिति प्राप्त कर सकते हैं।

जासूसों को नियुक्त करना

महाकवि कालिदास के नाटकों में गुप्तचर की भूमिका हमें प्रत्यक्ष नहीं मिलती, अपितु अप्रत्यक्ष रूप से गुप्तचर की सूचना मिलती है। नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में हम सबसे पहले अप्रत्यक्ष रूप से दुष्यंत के मामले में जासूस की भूमिका देखते हैं। शकुंतला और उसके दोस्तों के सामने खुद को छिपाने के लिए, राजा दुष्यंत कहते हैं - मैं वह हूं, जिसे राजा पुरु के वंशज को धार्मिक संस्कारों की देखरेख के लिए सौंपा गया था। और यह दुष्यंत ने यह सुनिश्चित करने के लिए किया कि धार्मिक संस्कारों को नुकसान न पहुंचे। गुप्त रूप से जनता के दृष्टिकोण के बारे में जानकारी एकत्र करे। उन्हें राजाओं का चेहरा माना जाता

है। लेकिन इस संबंध में कवि का दृष्टिकोण अलग है और इसलिए वह दुष्यंत को छद्मवेश में सबसे पहले प्रस्तुत करते हैं। अर्थशास्त्र में गुप्तचरों के बारे में भी कहा गया है – ''कापटिक-उदास्थित-गृहपति-वैदेहक-तापसव्यंजनान् सत्रि-तीक्ष्ण- रसद-भीक्षुकीश्च।''[7] ये गुप्तचर राजा के विभिन्न कामों में लगे रहते हैं।

बलिदान और प्राचीन नियम

राजा होने के नाते उनके पास कई यज्ञ करने का अधिकार और शक्ति है। उदाहरण के लिए, राजसूय, अश्वमेध आदि। ये हैं प्रमुख यज्ञ लेकिन कुछ छोटे बलिदान या अनुष्ठान होते हैं जो राजा के महल में या उसके बाहर किए जाते हैं। जैसे जातकर्म, नामकरण, केशांत वेदारंभ, उपनयन आदि, जो विशेष रूप से राजकुमार के लिए अभिप्रेत हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में हमें बालक सर्वदमन के मामले में जातकर्मा के नाम का उल्लेख मिलता है। मनुसंहिता में जातकर्म बारे में उल्लेख है-

प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत्प्राशंन चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।।

राज्य की कानून व्यवस्था

राजा के प्रशासन के संदर्भ में राज्य की कानून व्यवस्था बहुत महत्त्वपूर्ण है। मनु के सिद्धांत को स्वीकार करते हुए हम दुष्यंत की कानून व्यवस्था को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। जैसे 1. विरासत का कानून, 2. चोरी का कानून। कालिदास के समय में उत्तराधिकार का नियम प्रचलित था और इसका मूल्य अधिक था। यह सटीक विचार हमें धनमित्र व्यापारी प्रकरण के नाटक से मिलता है। मंत्री आर्य पिशुन ने निर्णय के लिए राजाओं को रिपोर्ट भेजी। धनमित्र नाम का एक व्यापारी एक जहाज की तबाही में खो गया है, उसकी कोई संतान नहीं है और वह अपनी विशाल संपत्ति को कानून द्वारा राजा को दे सकता है। राजा का जवाब था, चूंकि उसके पास बहुत संपत्ति थी, उसकी कई पत्नियां होनी चाहिए, और पूछताछ की जाए, एक पत्नी हो सकती है जिसके बच्चे हों। फिर जाँच करने पर राजा को पता चला कि उसकी एक पत्नी माँ बनने वाली थी, अचानक राजा ने फैसला किया कि अजन्मे बच्चे को पिता की संपत्ति का अधिकार होगा। कालिदास के समय में विधवाओं को कोई अधिकार नहीं था। उत्तराधिकार के लिए। इसलिए राजा दुष्यंत ने बच्चे के बारे में पूछताछ की। इससे पता चलता है कि कालिदास ने

अपने नाटक में कानून व्यवस्था को खूबसूरती से प्रस्तुत किया है। हम चोरी के कानून के रूप में दूसरे बिंदु पर आते हैं। नाटक के षष्ठ अंक में एक मछुआरा की कहानी मिलती है।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में राजा दुष्यंत का प्रशासनिक कारण से लोकराज्य बन गया। जनराज्य एक ऐसा राज्य है जो हमेशा लोगों के कल्याण के लिए प्रयास करता है। लोगों की खुशी के लिए विशिष्ट कानूनी व्यवस्था है। राजा दुष्यंत एक प्रजावत्सल, पुण्यात्मा, न्यायवान व्यक्तित्व के धनी थे। हम देखते हैं, व्यापारी धनमित्र के मृत्यु के पश्चात् सारी संपत्ति राजा ने धनमित्र अजन्मा पुत्र को सौप दिया। इससे स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि राजा कितने महान् और न्यायशील थे। क्योंकि राजा दुष्यंत चाहते तो असली उत्तराधिकारी ढूंढकर उसे देने के बजाय सारी संपत्ति खुद ले सकते थे। उसने लालच और अहंकार नहीं दिखाया। उनके शासन में सभी प्रजा ऋषि मुनि खुश और सुखी थे। उन्होंने राजसभा को चलाने के लिए अमात्य पर भरोसा किया। राजा ने अपने राज्य में कराधान में निष्पक्षता बनाए रखी।

सन्दर्भ -

1. *अभिज्ञानशकुन्तलम् 6.22*
2. *अर्थशास्त्रम् 1.4 पृष्ठा - 60*
3. *मनुसंहिता 2.127*
4. *अभिज्ञानशकुन्तलम् 6.41*
5. *अभिज्ञानशकुन्तलम् 2.31*
6. *अभिज्ञानशकुन्तलम् 1.31*
7. *अर्थशास्त्रम् 1.11 पृष्ठा - 98*
8. *मनुसंहिता 2.29*

12

कालिदास के नाटकों में दार्शनिक तत्त्व

किरण आर्या

दृश्यते-ज्ञायते विचार्यते अनेन इति दर्शनम् अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाये उसे दर्शन कहते हैं। किसी वस्तु के तात्त्विक अर्थात् सच्चे स्वरूप को जान लेना ही दर्शन शब्द का अर्थ व प्रयोजन माना गया है। यह संसार आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक इन त्रिविध तापों से युक्त है, इन तापों से सर्वथा मुक्ति पाने के लिये हमारे ऋषियों ने अपने सतत परिश्रम एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन द्वारा जिस साधन को ढूंढ निकाला वह संस्कृत में दर्शन नाम से प्रसिद्ध है। मानव जीवन के समस्त व्यवहार की समष्टि पुरुषार्थ चतुष्टय में निहित है। पुरुषार्थ चतुष्टय के अन्तर्गत ही मनुष्य का अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' है जिसकी प्राप्ति के लिये प्रत्येक तत्त्व चिन्तक की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। तत्त्व चिन्तन की दिशा में किये जाने वाले समस्त उद्यम दार्शनिक भावना के उद्गम स्रोत हैं। भारतीय दर्शन शास्त्र की परम्परा में प्रत्येक दर्शन का उद्देश्य मुक्ति है, इन दर्शनों में यदि कुछ भिन्नता है तो वह है उनके द्वारा मुक्ति को प्राप्त कराने वाली पृथक् पृथक् पद्धतियां।

विश्व के समस्त दर्शनों के आधार भारतीय षड्दर्शन हैं। इससे प्रेरित होकर कालिदास का दार्शनिक चिन्तन, जीवन और जगत् के समस्त भावों को अपने में समाहित किये हुये है। महाकवि कालिदास के साहित्यिक दर्शन में समस्त भारतीय दर्शनों का समावेश हम यत्र तत्र पाते हैं। कालिदास की बुद्धि का प्रवेश समस्त दर्शनों में था। उनका चिन्तन व्यावहारिक जगत् से आध्यात्मिक जगत् की ओर अग्रसर होता हुआ दीखता है। उन्होंने व्यक्ति के चिन्तन के पक्षों को दार्शनिक पृष्ठभूमि पर स्थापित किया है। व्यास तथा वाल्मीकि के ही समान कालिदास ने भी

न केवल मोक्ष रूपी पुरुषार्थ को प्रधानता दी है अपितु धर्म अर्थ काम इन पुरुषार्थों को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना है। कालिदास के द्वारा दार्शनिक सन्दर्भो के विवेचन से दर्शन के केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का ही बोध नहीं होता है अपितु उनका मानव जीवन के सम्बन्ध में क्या उपयोगिता तथा सार्थकता हो सकती है उसका भी प्रतीकात्मक स्वरूप प्रस्तुत होता हे। कालिदास वस्तुतः व्यंजनावादी कवि थे। उनका प्रत्येक कथन बहुविध अर्थों को समाहित किये हुये है। कालिदास का प्रत्येक कथन या चिन्तन मानव जीवन के विकास पथ से भिन्न नहीं प्रतीत होता है अतएव उनकी रचना कालजयी तथा मानवमात्र के लिये सर्वदा ग्राह्य एवं ज्ञेय है।

समस्त दर्शनों की समग्र दृष्टि मानव मात्र को येन केन प्रकारेण शिवतत्त्व से जोड़ने का प्रयास करती है तदनुरूप कालिदास की रचनाओं में भी हमें शिव की गुण गरिमा का सर्वोच्च रूप दिखाई देता है जिसके कारण वे सर्वथा शैवोपासक के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। परवर्ती युग में शिव के स्वरूप की जिस रूप में व्याख्या हुई है वही रूप कालिदास के ग्रन्थों में परिलक्षित होता है। इनका शैवदर्शन जीवन के सार्वभौमिक सत्य को उजागर करता है, लोक मंगल की स्थापना करता है जिससे व्यक्ति परमानन्द की और अग्रसर होता है। तथा जीवन के परम तत्त्व मोक्ष की प्राप्ति करता है। रघुवंश के मंगलाचरण पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि न केवल शिव कालिदास के आराध्य देव हैं अपितु पार्वती तथा परमेश्वर के नित्य सम्बन्ध के आधार पर कालिदास अद्वैत सिद्धान्त के समर्थक भी हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा विक्रमोर्वशीयम् की नान्दी में शिव की अष्टमूर्तियों की स्तुति गई है-

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री।
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।।
यमाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।'[1]

यह मंगलाचरण कालिदास के दार्शनिक बुद्धित्व को दर्शाने में अकेला ही समर्थ है इसमें आये हुये श्रुतिविषयगुणा, प्रत्यक्षाभिरष्टाभिः पद स्पष्टतया दर्शन की ओर हमें मोड़ते है। श्रुतिविषयगुणा पद से इस बात की स्पष्ट प्रतीति होती है कि कालिदास नैयायिकों के इस मत से परिचित हैं कि आकाश अनुमेय है, वायु भी अनुमेय है, परन्तु वह सामान्य रूप से आकाश के विषय में इस प्रचलित मत का

प्रतिपादन कर रहा है कि आकाश वस्तुतः दृश्य है ऐसा अध्यारोप अथवा अध्यास के कारण है जैसा कि आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा है- बालास्तल-मलिनतामाकाशेऽध्यस्यन्ति। अत एव कालिदास प्रत्यक्षाभिः पद का प्रयोग करते हैं क्योंकि आकाश और वायु प्रत्यक्ष न होकर अनुमेय हैं। वायु का ग्रहण त्वचा से होने के कारण प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार आकाश भी प्रत्यक्ष है क्योंकि शब्द श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है अतः आकाश भी प्रत्यक्ष माना जा सकता है। प्रस्तुत पद्य में शिव के अस्तित्व का अनुमान उसके आठ प्रत्यक्ष रूपों से होता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के भरतवाक्य में कालिदास ने शिव को आत्मभू, सामर्थ्यशाली तथा मोक्षप्राप्ति के एक मात्र साधन के रूप में उल्लेख किया है। मालविकाग्निमित्रम् में शिव और पार्वती के लास्य एवं ताण्डव नृत्य का उल्लेख करते हुये कवि ने दोनों की एकरूपता को सिद्ध किया है। कालिदास की दृष्टि में शक्ति और शिव एक ही हैं। एक दूसरे के अभाव में उनकी सत्ता का अनुभव नहीं किया जा सकता। कालिदास का कुमारसम्भव उनकी शैवसंहिता है। यह शिव सम्बन्धी उपनिषद् है। कुमारसम्भव तो शिव के गुणों के कीर्तन के रूप में ही प्रस्तुत हुआ है। कालिदास के अनुसार शिव में ही समस्त सृष्टि समाहित है जिसकी आत्मशक्ति अपने गुणों से युक्त होकर रचना और विसर्जन का कार्य करती है। जिसके द्वारा कालिदास ने शिव रहस्य का उद्घाटन किया है उनके अनुसार शिव ही घट घट में वास करने वाले हैं जिनके द्वारा समस्त चराचर जगत् अपनी गति को प्राप्त करता है। जो जितेन्द्रिय है ऐसे शिव का किन्नर मिथुन दिन रात गुणगान करते हैं ऐसे शिव ही कालिदास के इष्टदेव हैं जो स्वयं में ही मंगलरूप हैं-

स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गंगाप्रवाहोक्षितदेवदारु।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगंधि किंचित्क्वणात्किंनरमध्युवास।।'[2]

इस प्रकार कालिदास ने शैव दर्शन के द्वारा न केवल भारतीय दर्शन और दार्शनिक मतों के ऐक्य को स्थापित किया है। अपितु **'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यतिः'** इस वेदोपदेश को अपनी मेधा द्वारा साध्य बताया है। कालिदास में जब हम महर्षि कपिल की दृष्टि को हम खोजते हैं तो पाते हैं कि जैसे सांख्य का ज्ञानदर्शन प्रकृति और पुरुष पर आधारित है। उसके अनुसार विश्व का विकास तीन गुणों से हुआ है वे गुण हैं- सत्त्व रज और तम। इन तीन गुणों की

साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। तब कालिदास भी इस तत्त्व का विमर्श करते हुये कुमारसम्भव में लिखते हैं-

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने। गुणत्रयविभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे।।'[3]

तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्। प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः।।'[4]

अर्थात् देवता लोग तारकासुर से त्रस्त होकर ब्रह्मा जी की स्तुति करते हुये कहते हैं- भगवन्! संसार रचने से पहिले ही रूप में रहने वाले और संसार रचते समय सत्त्व रज तथा तम ये तीन गुण उत्पन्न करके ब्रह्मा विष्णु और महेश नाम से तीन रूप के बन जाने वाले आपको प्रणाम है। आप ही सृष्टि के प्रथम हो, सृष्टि के अनन्तर भी प्रलय, स्थिति, तथा सृष्टि की कारणता को प्राप्त हो। सांख्य तीन प्रमाणों को मानता है- दृष्ट अनुमान तथा आप्तवचन। अन्तःकरण एवं इन्द्रियों की वृत्ति प्रमाण कहलाती हैं। कालिदास भी इस तथ्य का समर्थन करते हुये प्रतीत होते हैं, यथा-

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।
आप्तवागनुमानीयां साध्यं त्वां प्रति का कथा।।'[5]

जब पृथ्वी आदि को देखने से आपकी महिमा स्पष्ट प्रकट होने पर भी आपका ठीक ठीक परिचय नहीं मिल पाता, तब भला वेदों के वर्णन से और अनुमान से आपका ज्ञान कैसे हो सकता है? सत्त्व रज तम इन तीन गुणों की चर्चा मालविकाग्निमित्र नाटक में भी है-

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः।
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः,
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः।।'[6]

अपने भक्तों को मनचाहा फल देने का बेजोड़ भण्डार अपने पास होते हुये भी जो केवल हाथी की खाल ओढ़कर अपना काम चला लेते हैं (सात्त्विक वृत्ति), अपने आधे शरीर में अपनी पत्नी को बसाये रखने पर (राजसिक वृत्ति) भी जो संसार के भोगों से वंचित अपना मन दूर हटाये रहते हैं, और अपने अष्ट रूपों में सारे संसार का पालन करते हुये भी जो अभिमान को अपने पास नहीं भटकने देते हैं ऐसे संसार के स्वामी महादेव जी पाप की ओर ले जाने वाली हमारी तामसी वृत्ति को ऐसे मिटा दें कि हमारा मन अच्छे काम में लगा रहे। इस प्रकार कालिदास के नाटकों में हमें सांख्य दर्शन की झलक प्राप्त होती है।

योगदर्शन के समान महाकवि कालिदास ने मोक्ष प्राप्ति के लिये योग को महत्त्वपूर्ण साधन माना है। भक्ति और कर्म के साथ ही योग मार्ग भी मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख साधन है। कुमार सम्भव में योगसाधना का आधार-समाधि में स्थित शिव का वर्णन करते हुये कालिदास ने लिखा है कि -

स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम्।
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्र्यम्बकं संयमिनं ददर्श।।[7]

अर्थात् आसन्न मृत्यु कामदेव ने देवदारुओं के अधोभाग में बनी हुई वेदी पर व्याघ्रचर्म बिछाकर बैठे हुए समाधिस्थ शिव को देखा। **प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने।**[8] यद्यपि पार्वती के वहां रहने से शिव जी के तप में बाधा पड़ सकती थी फिर भी उन्होंने पार्वती की सेवा स्वीकार कर ली क्योंकि सच्चा धीर महात्मा उन्हें ही समझना चाहिये जिनका मन विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के बीच रहकर भी तिल मात्र विचलित न हो। ध्यान के सम्बन्ध में कालिदास लिखते हैं-

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्।।'[9]

अर्थात् शरीर के भीतर चलने वाले समस्त प्राणवायु को रोककर भगवान् शिव इस प्रकार अचल स्थिति में बैठे हैं मानों न बरसने वाला बादल हो, बिना लहरों वाला निश्चल तालाब हो या पवन रहित स्थान में स्थित लौयुक्त दीपक हो। यह श्लोक योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इस योगदर्शनसूत्र का प्रतिरूप प्रतीत होता है। वीरासन (योगासन के अन्तर्गत) के सम्बन्ध में बताते हुये कालिदास ने कहा है-

पर्यंकबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसंनिवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवाकमध्ये।।'[10]

अर्थात् महादेव जी ने वीरासन से शरीर के उत्तर भाग को निश्चल बनाकर सीधे तथा विशाल दोनों कन्धों को नीचे की ओर झुकाकर तथा फूले कमल के समान दोनों हथेलियों को मध्य में रखे हुये शंकर को देखा। समाधि में बैठे हुये शंकर जी अपनी इस अविनाशी आत्मा की ज्योति को अपने भीतर देख रहे हैं जिसे ज्ञानी लोग अपनी नवों इन्द्रियों के द्वार रोककर मन को समाधि में वश में करके हृदय में रखकर समझ पाते हैं अतः कालिदास के अनुसार समाधि के द्वारा ही परम ज्योति का दर्शन किया जा सकता है। शंकर द्वारा परमात्मा का दर्शन समाधि के

द्वारा ही दिखाई गया है। पार्वती जी अपने भावी पति शंकर के आश्रम पहुंचती हैं ठीक उसी समय महादेव भी परमात्मा की परम ज्योति का दर्शन करते हुये अपनी समाधि तोड़ते हैं- **योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम।।'**[11]

कालिदास ने मारीच ऋषि द्वारा ध्यान लगाने के सन्दर्भ का उल्लेख करते हुये लिखा है कि मारीच ऋषि ऐसी तपस्या कर रहे हैं कि उनका आधा शरीर वल्मीक में दबा हुआ था और जिसकी छाती सांप की केचुलियों से लिपटी थी जिनका गला पुराने लता तन्तुओं के समूह से अत्यधिक पीड़ित था जिसकी जटायें कन्धों तक फेली हुईं थी और जिसमें पक्षियों के घोसलें व्याप्त थे ऐसे ठूंठ के समान वे ऋषि सूर्य मण्डल की ओर मुंह किये हुये थे-**वाल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा-।'**[12]

योग की महत्ता का उल्लेख करते हुये कालिदास ने स्पष्ट कर दिया है कि योगी व्यक्ति के लिये कोई भी कार्य असम्भव नहीं होता है। वह अपनी तपोसाधना-रूपी योग बल से सब कुछ सम्भव कर सकता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुर्वासा अपने योगबल के कारण ही शकुन्तला को श्राप देते हैं जिसके फलस्वरूप दुष्यन्त शकुन्तला को भूल जाता है। कुमारसम्भव में गीता से सम्बन्धित क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ शब्द का उल्लेख कालिदास ने किया है जिन्हें योगी लोग अपने शरीर के भीतर बैठा हुआ पाते हैं और जिनके लिये विद्वानों का कहना है कि वह (शिव) जन्म मरण के बन्धनों से बाहर ही है।

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम्।
अनावृत्तिभयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः।।[13]

इसी प्रकार वेदान्त का उद्‌देश्य-अद्वैत प्रतिपादन कालिदास के नाटक में मिलता है- **त्वं पितृणामपि पिता देवानामपि देवता। परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि।।**[14] इस श्लोक में कालिदास ने ब्रह्मा की स्तुति वर्णन में अद्वैत के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुये कहा है कि ब्रह्मा पितरों के पिता, देवताओं के देवता, गुणों में गुणवान्, और सृष्टिकर्ता प्रजापतियों के भी सृष्टिकर्ता हैं। इस प्रकार कालिदास की समस्त दार्शनिक प्रक्रिया अद्वैत को ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक प्रसिद्धि में तत्त्वतः केन्द्रित करती है उनका परम तत्त्व अद्वैत सत्य के रूप में प्रतिष्ठित है। उन्होंने जागतिक प्रपंच की सृष्टि, स्थिति तथा लय तीनों की स्थिति एकमात्र सद्‌रूप अधिष्ठान में ही दिखाई है - **आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।**[15]

महाकवि कालिदास ने मीमांसा दर्शन के स्वरूप का उद्घाटन यज्ञ मीमांसा के रूप में किया है। उन्होंने जन जीवन के कल्याण हेतु यज्ञ को अत्यधिक महत्त्व दिया है। मीमांसक यज्ञ को स्वर्ग प्राप्ति का साधन मानते हैं। कालिदास भी इस तथ्य से पूर्णतया अवगत थे। वे यज्ञसम्बन्धी उल्लेख अनेकत्र करते हैं। यज्ञ के लिये वेदवाणी का प्रयोग होता है और वेदवाणी का आरम्भ ओंकार से होता है। जिसका उच्चारण उदात्त अनुदात्त और स्वरित इन स्वरों से होता है और जिसके मन्त्रों से यज्ञ करके लोग स्वर्ग की प्राप्ति करते हैं -

उदात्तः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्।।'[16]

अभिज्ञानशाकुन्तल में महर्षि मरीचि दुष्यन्त से कहते हैं कि आपकी प्रजा के लिये इन्द्र सदा भरपूर वर्षा करें और आप बहुत यज्ञ करके इन्द्र को प्रसन्न करते रहिये। जिसके फलस्वरूप इहलोक और परलोक दोनों सुखी रहे-

तव भवतु विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु त्वमपि विततं यज्ञो वज्रिणं प्रीणयस्व।
युगशतपरिवर्तानेवमन्योन्यकृत्यैर्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः।।[17]

इस प्रकार कालिदास की रचनाओं में समस्त दर्शनों का वर्णन प्राप्त होता है। कालिदास के दार्शनिक विवेचनों का प्रमुख उद्देश्य मानव धर्म की रक्षा करना है। कालिदास का दर्शन विश्वकल्याण आत्मकल्याण दोनों पक्षों को प्रस्तुत करता है तथा धर्म से मोक्ष तक की यात्रा की अजिह्मा राजपद्धति है।

सन्दर्भ -

1. अभि.शा.1.1
2. कुमार. 1.54
3. कुमार. 2.4
4 कुमार. 2.6
5 कुमार. 10.28
6 मालविका 1.1
7 कुमार. 3.44
8 कुमार. 1.59
9 कुमार. 3.48
10 कुमार. 3.45
11 कुमार. 3.58
12 अभि.शा.7.11
13 कुमार. 6.77
14 कुमार. 2.14
15 कुमार.2.10
16 कुमार .2.12
17 अभि.शा. 7.34

13

मालतीमाधव में रस विवेचन

सुकदेव वाजपेयी

संस्कृत नाटक के विशाल साहित्य पर जिन अंगुलिगण्य नाटककारों के अमिट चरणचिह्न विद्यमान हैं उनमें भवभूति का नाम उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य, काव्यगत वैशिष्ट्य, नाट्यगत शिल्पशक्ति, कलात्मक अभिव्यक्ति तथा रस एवं भावाभिव्यंजना की अद्भुत क्षमता के कारण स्वर्णाक्षरों में अंकित किये जाने योग्य है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रूपक के भेदक तत्त्व के रूप में वस्तु, नेता, रस को प्रतिष्ठित किया है। कोई भी रूपक इन तीन तत्त्वों के काव्यात्मक समन्वय का ही परिणाम होता है। वस्तु एवं नेता नाटक को स्थापित करती है, परन्तु रस के अभाव में वह मात्र चित्रकाव्य की ही उपाधि प्राप्त कर पाता है। यही कारण है कि प्रायः सभी वरेण्य आचार्यों ने एक स्वर से रस की सर्वातिशायिता स्वीकार की है।

महाकवि भवभूति द्वारा विरचित मालतीमाधव दस अंकों का प्रकरण ग्रन्थ है। इसकी कथावस्तु कवि द्वारा कल्पना प्रसूत है। इस प्रकरण में नायक माधव ओर नायिका मालती है। देवरात भूरिवसु, मकरन्द, मदयन्तिका, कामन्दकी, सौदामनी, तथा कपालकुण्डला आदि इसके अन्य गौण पात्र हैं। इसमें अंगीरस श्रृंगार है। श्रृंगार के अतिरिक्त इसमें वीर, करुण, भयानक, बीभत्स, तथा अद्भुत रस का भी संयोजन किया गया है।

मालतीमाधव में श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति उस समय होती है जब नन्दन मालती से विवाह करने के लिये राजा से याचना करता है तब अवलोकिता मालती का माधव के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिये भूरिवसु के भवन के अति निकट राजमार्ग से माधव का यातायात कराती है -

भूयोभूयः सविधनगरिरथ्यया पर्यटन्तं,
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुंग-वातायनस्था।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्,
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरंगकैस्ताम्यतीति।।'[1]

इस श्लोक में मालती और माधव दोनों के यौवन के पारस्परिक रति भाव का निमित्त रूप में वर्णन किया गया है अतः यहां श्रृंगार रस है। भूयोभूयः श्लोक द्वारा मालती तथा माधव दोनों ही श्रृंगार के विभाव के रूप में लक्षित होते हैं। जब माधव मालती को देखता है तो वह उस पर मोहित हो जाता है-

स्मितविकसिततानामुल्लसद्भ्रूलतानां, मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम्।
प्रतिनयननिपाते किंचिदाकुंचितानां विविधमहमभुवं पात्रमालोकितानाम्।।[2]

अर्थात् माधव कहता है कि चंचल और विकसित भ्रूलताओं से युक्त अनुराग से सुन्दर अनिर्वाच्य सुखानुभूति से मुकुलित अपांग देश में विस्तार सम्पन्न मेरे नेत्रों से मिलने पर लज्जा से संकुचित इस तरह अनेक प्रकार से मालती के अवलोकन का मैं पात्र हो गया। यहां श्रृंगार चेष्टा विशेष से उद्भासित स्तम्भ, स्वेद आदि से श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार प्रथम अंक में मालती माधव एक दूसरे को देखकर परस्पर आसक्त होते हैं।

द्वितीय अंक में पद्मावती नरेश के मन्त्री भूरिवसु अपनी पुत्री मालती का विवाह नन्दन के साथ करने के लिये उद्यत होते हैं और कामन्दकी मालती को माधव से विवाह करने के लिये तैयार कर लेती है- **ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डनकलः शशी। दहतु मदनः किं वा मृत्योः परेण विधास्यतः।।'**[3] कह मालती अपने नायकोचित सात्वज धर्म का परिचय देती है। वहीं 'मुझे अपने प्राण भी प्रिय नहीं हैं' कह अपनी उद्वेगावस्था को प्रकट भी कर देती है। मालती की इस विरहावस्था में भी परिव्राजिका कामन्दकी की कल्याणमय कल्पना 'संकल्पनिर्मित प्रिय समागम' का अनुमान कर ही लेती है। यहां मालती के नीवीबन्ध की शिथिलता से अनुराग की उत्कटता, अधर स्पन्दन से स्फरित चुम्बन से आलिंगन का सुख, स्वेद से आयास, गात्रस्तम्भ से अतिहर्ष, स्तनों के प्रकम्प से प्रिय का गाढालिंगन मूर्च्छना से निरतिशय आनन्द का अनुमान कर टीकाकार सम्भोग श्रृंगार की कल्पना करते हैं किन्तु यह कल्पना नायिका की नहीं अपितु चिरचीवरधारिणी ब्रह्मचारिणी परिव्राजिका कामन्दकी की है अतः यहां सम्भोग श्रृंगार नहीं प्रत्युत विप्रलम्भ श्रृंगार है।

तृतीय अंक में कामन्दकी शिवालय के निकट अशोकवन में मालती और माधव के मिलन की योजना बनाती है। माधव वहीं पहले से छिपा बैठा है। लवंगिका मालती को वहां लाती है। तथा उसके अनुराग को उद्दीप्त करती है'[4] माधव की विरह व्यथा भी असह्य हो चली है। सामान्यावस्था में सुखदायक लगने वाली वस्तुयें - मुकुलित आम्रवृक्षों पर कोयल की कूज, पावक सदृश चन्द्रकिरणें आदि उसके लिये प्राणहारक बनने लगी हैं। यहां भवभूति ने माधव के मरणोद्योग में उन्हीं साधनों का उपयोग किया है जिनका निर्देश शास्त्रकारों ने किया है।

लवंगिका ने अपने लम्बे भाषण, जो नाटकीयता की दृष्टि से भले ही अनुपयुक्त हो, में मालती की चक्षुप्रीति, अंगग्लानि, पाण्डुता, अरति चिन्ता आदि कामदशाओं तथा स्तम्भ, स्वेद, कम्प आदि सात्विक भावों का वर्णन कर विप्रलम्भ श्रृंगार को ही बलवान् बनाया है। मालती माधव का यदि मिलन भी होता है तो विषम परिस्थियों में। मकरन्द को क्षतविक्षत देखकर माधव मूर्च्छित हो जाता है। मालती के ललाट स्पर्श से वह होश सम्भालता है। तभी एक पुरुष नन्दन से मालती की शादी तय होने की सूचना देता है। यह सुनते ही दोनों विवर्ण हो जाते हैं। माधव का उद्वेग परिस्थितियों के प्रतिकूलतावश नैराश्यपूर्ण स्थिति पैदा करता है। उसे महामांस विक्रय के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं सूझता। श्मशान के आतंकपूर्ण वातावरण में भी वह मालती के ही ध्यान में मग्न रहता है यहां उसकी अभिलाषा के साथ ही चित्तासंग की दृढ़ता व्यक्त होती है। अपनी प्रियसखी लवंगिका से अन्तिम इच्छा व्यक्त करते हुये मालती विषयक कथन में नैराश्य और कातरता से युक्त अत्यन्त करुणा है जो विप्रलम्भ श्रृंगार का पोषक है। कामन्दकी के परिश्रम से मालती तथा माधव अष्टम अंक में मिलते हैं। भवभूति कलहंस के द्वारा मकरन्द के बन्दी बनाये जाने की सूचना देकर मैत्री के भावावेश में माधव को उसके रक्षार्थ भेज देते हैं। मालती अकेले बच जाती है। अघोरघण्ट की हत्या का बदला लेने के लिये कपालकुण्डला को उचित अवसर मिल जाता है और वह मालती का हरण कर लेती है। मदयन्तिका तथा लवंगिका मालती को खोजने आती हैं और उसे न पाकर दुःखी होती हैं मालती तथा मकरन्द विजयी होकर लौटते हैं। माधव मालती को खोजता है न मिलने पर दुःखी होता है। अंक के अन्त में मकरन्द की स्वगत उक्ति - **सौदामिनीस्फुरणचंचलमेव सौख्यम्**[5] में नाटकीय व्यंग्य की अनुभूति होती है।

नवें अंक में विष्कम्भक के बाद करुणा के साथ निःश्वास छोड़ता मकरन्द मालतीजन्य प्रेमपीड़ा से मस्त माधव का वर्णन करता है माधव अपनी प्रेमिका के लिये करुण विलाप करता हुआ कहता है-

दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा तु न भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहं न मुंचति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूर्मन्ददाहः करोति न भस्मसात्,
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्।।[6]

मकरन्द प्रकृति के अनुरूप मनोरम सौन्दर्य की ओर माधव का ध्यान आकृष्ट कर उसकी वेदना कम करना चाहता है किन्तु यह रमणीयता माधव को शोकविह्वल करने में सहायक होती है। वह मूर्च्छित होकर गिर जाता है। माधव की ऐसी दशा देखकर मकरन्द व्याकुल हो जाता है। उसकी आंखों में आसूं आ जाते हैं। वह अपने आवेग, पीड़ा, मोह, विषाद, जड़ता, ग्लानि, दैन्य, निर्वेद आदि को व्यक्त करता हुआ कहता है- **मातर्मातर्दलति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्त- र्ज्वलामि। सीदन्नन्धेतमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा विष्वंगमोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि।।'**[7] मकरन्द का उन्मादपूर्ण करुण विलाप भी अत्यन्त हृदय विदारक है। माधव तो कालिदास के विरही यक्ष की तरह मेघ को दूत बना मालती को सन्देश प्रेषित करता है।'[8] उसका उन्माद बढ़ता ही जाता हैं मालती के अन्तर्मुखी शालीन व्यक्तित्व तथा वयः सन्धि की स्मृति माधव को और व्यथित तथा मर्माहत बना डालती है। वन्य जीव जन्तुओं तथा वनस्पतियों से भी मालती का पता नहीं चलता तो थककर हताश हो मूर्च्छित हो जाता है माधव की शोचनीय दशा का वर्णन मकरन्द इन शब्दों में करता है-

भारः कायो जीवितं वज्रकीलं काष्ठा शून्याः निष्फलानीन्द्रियाणि।
कष्टः कालो मां प्रतित्वत्प्रयाणे शान्तलोकः सर्वतो जीवलोकः।।[9]

माधव का कष्ट मकरन्द के लिये असह्य हो जाता है। वह स्वयं पाटलावती नदी में कूदने को उद्यत होता है तभी सौदामिनी उसे रोक लेती है तथा मालती-प्रत्यभिज्ञान के रूप में वुकलमाला दिखलाती है। माधव स्वयं द्वारा बनायी माला को पहचान लेता है वह इसे मालती का परिहार बता निर्दय न बनने की प्रार्थना करता है। माला को हृदय से लगाकर वह सकरुण निःश्वास लेता है और शोकाधिक्य से मूर्च्छित हो जाता है। मकरन्द उसे समाश्वस्त करता है।

दसवें अंक में शोकाभिभूत कामन्दकी, मदयन्तिका, तथा लवंगिका मालती के लिये करुण विलाप करती है। इस तरह आठवें अंक से लेकर दसवें अंक तक के वातावरण को कारुणिक प्रसंगों से युक्त माना जा सकता है। यहां मालती रूपी इष्ट का कुछ समय के लिये नाश या कपालकुण्डला रूपी अनिष्ट से उसकी भेंट हुई है। इस तरह वह आलम्बन विभाव तथा उसका गुण सौन्दर्य उद्दीपन विभाव माने जा सकते हैं। रोना उच्छ्वास, निःश्वास, प्रलाप, स्तम्भन, मोह आदि अनुभावों का निदर्शन कतिपय स्थलों पर है। जो करुण रस के उपकारक हैं। मोह, निर्वेद, विषाद, जड़ता, दैन्य, ग्लानि, सम्भ्रम, उन्माद, चिन्ता आदि संचारी भावों की प्राप्ति भी इन प्रसंगों द्वारा शोक स्थायी भाव से पुष्ट करुण रस की अभिव्यक्ति मानी जा सकती है। इस प्रकार श्रृंगार रस एवं करुण रस तो मालती माधव में स्पष्ट रूप से दृश्यमान हैं किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य रस भी यथा-वीररस, बीभत्स रस, भयानक रस, आदि भी मालतीमाधव नाटक में प्राप्त होते हैं। मालतीमाधव में वीररस की अभिव्यक्ति तृतीय अंक में होती हैं जब पिंजड़ा तोड़कर एक भयानक सिंह निकलता है और उसने देखते ही देखते कई मनुष्य, बैल, और घोड़ों को मार डालता है। तब मकरन्द हाथ में तलवार लेकर सिंह से लड़ता है। उस समय वीररस की अभिव्यक्ति हो रही है- **कथं तदवाप्तितादधिगतायुधः। कुतोऽपि मकरन्द एत्य सहसैव मध्ये स्थितः।।**[10] तृतीय अंक में ही बीभत्स रस का दृश्य उस समय उपस्थित होता है जब पिंजड़ा तोडकर भागा हुआ व्याघ्र तृष्णा के साथ गये अनेक प्राणियों और घोड़ों के मांस के टुकड़े तथा रुधिर से गमनमार्ग को कीचड़ से युक्त करता हुआ आ रहा था। उस दृश्य को देखकर माधव घृणा के साथ कहता है-

संसक्तत्रुटितविवर्तितान्त्रजालवयाकीर्णस्फुरदपवृत्तरुण्डखण्डः।
कीलालव्यतिकरगुल्फदहनपंकः प्राचझड्यं वहति नखायुधस्य मार्गः।।'[11]

भयानक रस की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम पंचम अंक में होती है। जब माधव श्मशान प्रदेश की भयङ्करता का वर्णन करते हुये कह रहा है- **पर्यन्तप्रतिरोधितमेदुरघनस्त्यानचिताज्योतिषामौज्ज्वल्यं परभागतः प्रकटयत्याभोग-भीमं तमः। संसक्ताकुलकेलयः किलकिलाकोलाहलैः सम्मदादुत्तालाः कटपुतनाप्रभू-तयः सांराविणं कुर्वते।।'**[12] यहां पर ज्योति के प्रान्तभाग में दृष्टि को रोकने वाला, स्निग्ध गाढ़, बढ़ा हुआ तथा परिपूर्ण होने से महाभयंकर मालूम पड़ने वाला,

अन्धकार चिता की अग्नियों की उज्ज्वलता के अपने गुणों के उत्कर्ष को प्रकाशित कर रहा है। अविच्छिन्न रूप से क्रीड़ा करने वाले भयंकर कटपूतनादि विशेष पिशाच हर्ष से किलकिला शब्दयुक्त कोलाहलों से चारों ओर शब्द कर रहे हैं। इस प्रकार मालतीमाधव प्रकरण में अनेक रसों का समन्वय है किन्तु श्रृंगार रस ही उसका अंगीरस है अन्य दूसरे रस अंग रूप में वर्णित हैं।

सन्दर्भ सूची -

1 *मालती माधव.1.18*

2 *मालती. 1.30*

3 *मालती 2.2*

4 *मालती 3.8-9*

5 *मालती. 8.14*

6 *मालती. 9.12*

7 *मालती. 9.20*

8 *मालती 9.26*

9 *मालती. 9.37*

10 *मालती 3.18*

11 *मालती 1.17*

12 *मालती. 5.11*

14

उत्तररामचरितम् में वर्णित नदियाँ

मैत्रेयी कुमारी

संस्कृत साहित्य कानन में यूँ तो सर्वत्र रस राग पराग-सौरभ समन्वित प्रसूनों के दर्शन होते हैं तथापि उनमें से दो अपनी विशिष्टताओं के कारण हमारा ध्यान सबसे अधिक आकर्षित करते हैं, ये कुसुमद्वय हैं- कालिदास और भवभूति कालिदास प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं तो भवभूति प्रकृति चित्रण के प्रांगण में सर्वोच्च पद पर आसीन हैं। उत्तररामचरितम् की संक्षिप्त कथावस्तु इस प्रकार है- प्रथम अंक में अन्तःपुर में बैठे हुए राम-सीता के पास अष्टावक्र मुनि प्रवेश करते हैं। ऋषि का अभिवादन करने के उपरांत प्रजा की भलाई के लिए राम सीता तक को त्याग देने की प्रतिज्ञा मुनि के सामने करते हैं।

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।[2]

उधर लक्ष्मण द्वारा लाए हुए राम के विगत जीवन से संबंधित चित्रों को देखते हुए सीता की अभिलाषा तपोवन देखने की होती है। दूसरी तरफ दुर्मुख नाम के गुप्तचर ने सीता के चरित्र के संबंध में प्रचलित लोकापवाद की सूचना राम को दी। उसे सुनकर राम ने सीता को त्याग देने का निश्चय कर लिया।

द्वितीय अंक में राम का पञ्चवटी वन में प्रवेश, शूद्रक के वध तथा राम के जनस्थानपर्यटन सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

तृतीय अंक में सीता वियोग के फलस्वरूप राम, वासन्ती, तमसा और छाया सीता के सामने विलाप करते हैं। तमसा और मुरला के संभाषण से ज्ञात होता है कि राम ने स्वर्णप्रतिमा निर्मित कराकर उसे सहधर्मिणी मान कर अश्वमेध किया

है। इसी अंक में भवभूति ने यह भी चित्रित किया है कि वनवास की दशा में एक दिन प्रसव वेदना से पीड़ित होकर सीता गंगा में कूद पड़ती है किन्तु पृथ्वी तथा गंगा उन्हें पाताल में ले जाकर रख देती हैं और माँ के स्तनपानत्याग के अनन्तर दोनों युगल कुमारों कुश और लव को महर्षि वाल्मीकि को सौंप देती हैं। चतुर्थ अंक में जनक, अरुन्धती और कौशल्या के वर्णन के साथ-साथ नाटककार ने लव के साथ उनकी भेंट करा दी है। पञ्चम अंक में चन्द्रकेतु और लव के युद्ध का प्रसंग अंकित किया गया है। षष्ठ अंक के विष्कंभक में विद्याधर और विद्याधरी के पारस्परिक संभाषण द्वारा लव और चन्द्रकेतु के युद्ध का वर्णन किया गया है। राम, लव, कुश और चन्द्रकेतु की भेंट भी इसी अंक में होती है। कुश द्वारा वाल्मीकि कृत रामायण का पाठ भी सुना जाता है। सप्तम अंक में राम-सीता वनवास का अभिनय देखते हैं। अन्त में पृथिवी और गंगा की सहायता से राम और सीता का पुनर्मिलन होता है।

भवभूति ने वाल्मीकि रामायण के मूल उपाख्यान का बहुत अल्पांश स्वीकार कर नाटक की कथावस्तु में कुछ परिवर्तन किया है जिससे नाटक सुखांत हो गया है। उत्तररामचरित का नाटकीय चक्र प्रकृति की गोद में घटित होता है। एक कुशल कवि होने के कारण भवभूति ने प्राकृतिक सौन्दर्य तथा मानवीय सौन्दर्य का अत्यन्त मनोमुग्धकारी चित्रण किया है। इनकी प्रकृति संश्लिष्ट और स्वतंत्र आलम्बन रूप में चित्रित हुई है। ये सामान्य चिर-परिचित मधुर दृश्यों की अपेक्षा प्रचण्ड एवं घोर दृश्यों का वर्णन अधिक पसंद करते हैं। प्रकृति के अनन्य अनुरागी कवि भवभूति ने उत्तररामचरितम् के द्वितीय अंक में दण्डकारण्य प्रदेश के भीषण आभानों, उसके गर्तों एवं दिशाओं को झंकृत करते हुए निर्झरों तथा कान्तारों का अत्यन्त गंभीरता के साथ वर्णन किया है; यथा-

स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोग्यारुक्षाः
स्थाने स्थाने मुखरककुभो झंकृतैर्निर्झराणाम्।
एते तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्तकान्तारमिश्राः
संकृश्यन्ते परिचितभुवो दण्डकारण्यभागाः।।[3]

भवभूति गंभीर प्रकृति के कवि हैं। वे अपनी प्रकृति के अनुसार ही प्रसाद गुण की अपेक्षा ओज गुण को अधिक पसन्द करते हैं। यही कारण है कि उन्हें प्रकृति का गंभीर, कठोर तथा विकट रूप अत्यधिक आकर्षित करता है;

उदाहरणस्वरूप-

एते ते कुहरेषु गहगहनदगोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दाक्षिणाः।
अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलै -
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः।।[4]

(गगनचुम्बी पर्वत आकाश में अपना सिर उठाए हुए हैं, उनकी गुहाओं में टकराकर गोदावरी का जल घोर ध्वनि कर रहा है। अगाध जल वाले नदी संगम एक-दूसरे से टकराकर परस्पर मिलती हुई उत्ताल तरंगों के कोलाहल से पूर्ण हैं।)

कवि भवभूति ने प्रकृति के हृदयहारी सौन्दर्य का वर्णन भी किया है, विशेष रूप से नदियों का। नदियाँ मानव जीवन के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। जल में अमृत और औषधियाँ हैं- **अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्- (अथर्ववेद-1/4/4)।** प्राकृतिक जलस्रोतों में वर्षा के बाद नदियाँ मुख्य रूप से जल का आधार है। (जलमेव जीवनम्)। संपूर्ण पृथ्वी पर तीन चौथाई भाग जल ही है। नदियों के माध्यम से प्राकृतिक जल मानव को, प्राणी को सहजता से सुलभ हो जाता है। नदियाँ पर्यावरण के साथ साथ पृथ्वी के संतुलन को भी बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं। भारतवर्ष की प्रमुख नदियाँ हैं- गंगा, यमुना, सरस्वती, सोन, शिप्रा, गोदावरी, नर्मदा, कावेरी, कृष्णा, ताप्ती, गंडक, सतलुज, गोमती, रावी, चिनाव, झेलम, सिंधु, व्यास, तवी इत्यादि।

हिमालय पर्वत से निकलकर बहनेवाली ये नदियाँ विभिन्न दिशाओं और प्रदेशों से होती हुई सुदूर दक्षिण तथा पूर्व में बंगाल की खाड़ी, हिन्दमहासागर एवं अरब सागर में मिल जाती हैं। इन नदियों का जल कृषि कार्यों के अतिरिक्त पीने, नहाने-धोने एवं विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निःशुल्क उपलब्ध रहता है। नदियों के किनारे विविध सभ्यताएँ विकसित, पुष्पित एवं पल्लवित हुई हैं। प्रायः कवि अपने काव्यों में नदियों का वर्णन प्रकृति वर्णन के सन्दर्भ में अवश्य करते हैं। महाकवि भवभूति ने भी उत्तररामचरितम् में पात्रों एवं स्थलों को ध्यान में रखकर नदियों का वर्णन स्त्रीपात्र के रूप में किया है। नाटक के स्त्री पात्रों सीता, वासन्ती, आत्रेयी, तमसा मुरला गोदावरी, भागीरथी, कौशल्या, पृथिवी, अरुन्धती, विद्याधरी, प्रतीहारी में से तमसा, मुरला, गोदावरी और भागीरथी नदियों का मानवीकरण स्त्रीपात्र के रूप में किया है। ये नदी विशेषाधिष्ठात्री देवियाँ हैं।

महाकवि भवभूति का प्रकृति वर्णन समयसिद्ध न होकर नवोद्भावित है। नदियों का स्त्रीपात्र के रूप में वर्णन से इनके हृदय की कोमलता का पता चलता है। एको रसः करुण एव इस उक्ति के उद्घोषक भवभूति की काव्यकला को निखारने में इन नदियों का भी बहुत अधिक योगदान है। उदाहरणार्थ- **जाने पुनरपि प्रसन्नगभीरासु वनराजिषु विहृत्य पवित्र-निर्मल-शिशिर- सलिलां भगवतीं भागीरथीमवगाहिष्ये इति।** सीता संवाद के माध्यम से पर्यावरण में नदी और वृक्ष के सुखकरत्व का तथा इनके महत्त्व का प्रतिपादन किया है। गोदावरी के प्रकर्ष का प्रतिपादन द्रष्टव्य है- **स्मरसि सरसनीरां तत्र गोदावरी वा। स्मरसि तदुपान्तेध्वावयोर्वर्तनानि।।**[5] प्रथम अंक में चित्रदर्शन के अवसर पर गोदावरी के तट पर राम-सीता के सुखद भ्रमण का स्मरण करते हुए उसके जल की उपयोगिता का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। गंगा, सिंधु आदि नदियों का भी सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। गोदावरी तट का दृश्य दर्शनीय है- **एतानि तानि बहुकन्दरनिर्झराणि। गोदावरीपरिसरस्य गिरेस्तटानि।।**[6]

उत्तररामचरितम् के सातवे अंक में गंगा के प्रकर्ष का प्रतिपादन किया गया है- **पाप्मभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेयं कथा मङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गङ्गेव च।**[7] यहाँ पाप्मभ्यः पुनाति, श्रेयांसि वर्धयति, इत्यादि विशेषणों द्वारा गंगाजल के महत्त्व व्याधिहरणत्व, प्राणप्रदत्व इत्यादि रूपों का प्रतिपादन बहुत अच्छी तरह से किया गया है। उत्तररामचरितम् में तमसा और मुरला- इन दो नदियों का बहुत ही रोचक संवाद प्राप्त होता है जिससे पता चलता है कि मुरला गोदावरी से अगस्त्यपत्नी लोपामुद्रा का यह संदेश कहने जा रही है कि सीता वियोग से अत्यन्त दुर्बल राम अगस्त्य आश्रम से लौटकर पञ्चवटी पहुँचने पर पूर्ववृत्तांतों की स्मृति से विह्वल हो उठेंगे। अतः गोदावरी उसका सार-संभाल करने में सतर्क रहे।

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः।।[8]

(गाम्भीर्य के कारण बाहर अप्रकाशित, भीतर ही भीतर छिपी हुई गाढ़ व्यथा वाला राम का करुणरस सीता वियोगजन्य शोकावेग पुटपाक[9] के समान है।) आगे, मुरला लोपामुद्रा के संदेश का अवशिष्ट अंश इस प्रकार कहती है-

वीचीवातैः शीकरक्षोदशीतैराकर्षद्भि पद्मकिंजल्कगन्धानं
मोहे मोहे रामभद्रस्य जीवं स्वैरं स्वैरं परितैस्तर्पयेति।।[10]

(जलकणों के चूर्णों से शीतल. कमलकेसर के गंध को हरने वाले (अर्थात सुगंधित जल) तथा मन्द मन्द प्रेरित तरङ्गवायुओं से रामभद्र की चेतना को प्रत्येक मूर्च्छा में तृप्त करना उन्हें होश में लाना।) तमसा लोपामुद्रा की राम के प्रति उदारता का वर्णन करते हुए मुरला की जिज्ञासा का शमन बड़े ही रोचक ढंग से करती है -

तृतीय अंक में गंगा की जलधारा में प्रसव से तत्कालीन समय में जल-विज्ञान (जल-चिकित्सा) की ओर संकेत प्राप्त होता है। माँ गंगा अपनी संतान के हर प्रकार के कष्टों को हरकर उसे यथासंभव सुखी बनाने का प्रयत्न करती है तभी तो उसे पतितपावनी कष्टनिवारिणी इत्यादि कहा जाता है। विस्मित मुरला कहती है-

ईदृशानां विपाकोऽपि जायते परमाद्भुतः। यत्रोपकरणी भावामायात्येवंविधो जनाः।।[11]

वास्तव में पृथ्वी, गंगा और वाल्मीकि उपकारक हैं - लव - कुश के द्वादश जन्मदिवस के अवसर पर पूजन हेतु सीता आई है गोदावरी नदी के तट पर। लेकिन तमसा के साथ अधिष्ठात्री देवी के प्रभाव के कारण मनुष्य तो क्या वनदेवता भी जानकी को नहीं देख पाते हैं यथा- **तमसा-उक्तमत्र भगवत्या भागीरथ्या - 'वत्से देवयजनसम्भवे सीते! अद्य खल्वायुष्मतोः कुशलवयोर्द्वावादशस्य जन्मवत्सरस्य संख्यामंगलग्रन्थि[12]रभिवर्तते। अहमप्याज्ञापिता 'तमसे! त्वयि प्रकृष्टप्रेमैव वधूर्जानकी। अतस्त्वमेवास्याः प्रत्यनन्तरीभव' इति। साऽहमधुना यथाऽदिष्टमनुतिष्ठामि।**

उधर सरयू के मुख से राम के पञ्चवटी में आने की संभावना सुनकर गंगा सीता को साथ लेकर गोदावरी पहुँचती है। गोदावरी के जल में अपनी वधू के साथ विहार करते गजशावक का दर्पोन्मत्त किसी अन्य गजेन्द्र के द्वारा आक्रान्त किए जाने का हृदयहारी वर्णन प्राप्त होता है।

वध्वा सार्धं पयसि विहरन्सोऽयमन्येव दर्पा-
दुद्दामेन द्विरदपतिना सन्निपत्याभियुक्तः।।[13]

राम भी अगस्त्य आश्रम से लौटकर पञ्चवटी में पहुँचे और सीता के सहवासकालीन स्थानों को देखकर विरह सन्तप्त हो मूर्च्छित हो गए। तमसा के कहने पर सीता के कर स्पर्श से राम आश्वस्त हुए।

त्वमेव ननु कल्याणि! सञ्जीवय जगत्पतिम्।
प्रियस्पर्शो हि पाणिस्ते तत्रैष निरतो जनः।।[14]

तमसा की राम और सीता के प्रति अभिव्यक्त भावना से मानो एक माँ की ममता, करुणा और वात्सल्य की प्रतीति हुई है। स्वपालित गजशावक के समान कुश-लव के विषय में सीता के पूछने पर तमसा का उत्तर श्लाघ्य है-

अस्तु देवताप्रसादात् किमत्रोच्यते? प्रसवः खलु प्रकृष्टपर्यन्तः स्नेहस्य। परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः।

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते।।[15]

यहाँ अपत्य को माता-पिता (पति-पत्नी) के संबंध को और अधिक दृढ़ करने वाला बताया गया है। कारण दम्पती का वात्सल्य अपत्य में केन्द्रित होता है। अतः अपत्य (सन्तान) इसके स्नेह का आश्रय या आस्पद होती है जो सर्वथा वासना से अकलुषित रहता है। साथ ही अपत्य को आनन्दग्रंथि भी कहा गया है। कारण पति-पत्नी का हृदय संतान से बंधा हुआ नित्य अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। (पति-पत्नी) के मध्य अपत्य ऐसी अनुपम गाँठ है जिससे अन्य बन्धनों की तरह दुःख का अनुभव नहीं होता, बल्कि नित्य नूतन आनन्द मिलता है। वास्तव में नदी विशेषाधिष्ठात्री देवी तमसा द्वारा भारतीय संस्कृति के अनुरूप अपत्य की परिभाषा प्रस्तुत की गई है- 'न पतति वंशो येन इति अपत्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपत्य शब्द वैसी उच्च एवं पवित्र भावना का विषय होने का अधिकार भी रखता है। कृत्रिम नदी (दुग्धकुल्या) की चर्चा भी उत्तररामचरितम् में प्राप्त होती है-

विलुलितमतिपूरैर्बाष्पमानन्दशोक-प्रभवमवसृजन्ती तृष्णयोत्तानदीर्घा।
स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते धवलबहलमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः।।[16]

(बड़े-बड़े प्रवाहों से विकीर्ण, आनन्द एवं शोक से उत्पन्न आँसू को डालती हुई, दर्शनोत्कण्ठा से ऊपर की ओर विस्तारित और दूर तक डाली जाने के कारण लम्बी, अति शुभ्र एवं मनोज्ञ दूध की छोटी कृत्रिम नदी-सी तेरी दृष्टि स्नेह की वर्षा करती हुई हृदयेश्वर (राम) को नहला रही है।

यहाँ तमसा सीता जी की दृष्टि को दुग्धकुल्या कहती हैं। प्रोषितभर्तृका होने के कारण सीता नेत्रों में काजल नहीं लगाती थी। अतएव उनकी दृष्टि अत्यन्त शुभ्र थी। इसी से उनकी दृष्टि को दूध की छोटी कृत्रिम नदी-सी कहा गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार, प्रोषितभर्तृका के लिए शरीर संस्कार आदि वर्जित है-

क्रीडां शरीरसंस्कारं, समाजोत्सवदर्शनम्। हास्यं परगृहे यानं त्यजेत प्रोषितभर्तृका।।[17]

रोना भी जरूरी है, यह विशेष लाभप्रद है विशेष रूप से अत्यधिक दुःखी होने पर तमसा-वत्से! साम्प्रतिकमेवैतत्-

कर्तव्यानि खलु दुःखितैर्दुखनिवापणानि।
पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरैव धार्यते।।(अनुष्टुप् छन्द)[18]

(जैसे तड़ाग की जलवृद्धि अधिक हो जाने पर (माली द्वारा) जल को निकाल देना ही उपाय है वैसे ही शोक से विक्षोभ होने पर प्रलाप (रोने-पीटने) से ही हृदयधारण किया जाता है।

इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा
प्रियशोको जीवं कुसुममिव धर्मो ग्लपयति।
स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्यसुलभ-
स्तदद्याप्युच्छ्वासो भवति ननु लाभो हि रुदितम्।।[19]

और इस रुदन की अभिव्यक्ति आँसुओं से भी होती है। जो जल ही हैं, बार-बार मूर्च्छित हो रही सीता को प्रकृतिस्थ करने के लिए तमसा का कथन दर्शनीय है-

वत्से ! समाश्वसिहि......समाश्वसिहि अहो संविनकम् एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक् पृथगमिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तबुद्बुद्तरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ।।[20]

(एक ही करुण रस निमित्त भेद से भिन्न होता हुआ पृथक्-पृथक् (श्रृंगारादि) विवर्तो (परिणामों) का आश्रयण करता है, ऐसा मालूम पड़ता है जैसे एक ही जल भँवर, बुद्बुद् और तरंग रूप विकारों का आश्रयण करता है, किन्तु तत्त्वतः वह जल ही है।) एक ही जल के विभिन्न रूप, कितनी अच्छी और गूढ़ बात कही है तमसा ने- सारी घटनाएँ जो अब तक घटी हैं, विचित्र एवं आश्चर्यजनक हैं। इसका दूसरा अर्थ है कि भवभूति अपने नाटक के विषय में मानों सूचित कर रहे हैं कि इस नाटक में मनोभावों, कार्यों तथा घटनाओं का आश्चर्यजनक क्रम है तथा करुण रस प्रधान होना भी इस नाटक का वैलक्षण्य है जो अपने आपमें एक आश्रय है क्योंकि नाट्य साहित्य में प्रधानता की दृष्टि से अमान्य करुण रस को मुख्यरस बना कर रचा गया पूर्ण सफल यह नाटक अपनी कोटि का निराला नाटक है। करुण रस यहाँ वस्तु रूप से ही स्थित है। उत्तररामचरितम् के सप्त अंग (गर्भाङ्क) में सीता

के द्वारा राम को आर्यपुत्र कहने पर पृथिवी की व्यथा एक माँ की व्यथा है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह अवतरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पृथिवी- आः कस्तवार्यपुत्र । सीता- (सलज्जास्तम्) यथा वाऽम्बाभणति । तब रघुकुल से अपना निकटतम सम्बन्ध होने के कारण पृथिवी को संतुष्ट करने के लिए राम की ओर से युक्तियुक्त सफाई प्रस्तुत करते हुए भागीरथी हाथ जोड़कर क्षमा याचना कर उसे शांत करने का प्रयास करती है-

भागीरथी- भगवति वसुन्धरे। शरीरमसि संसारस्य तत्किमसंविदानेव जामात्रे कुप्यसि? तथाप्येष तेऽञ्जलिः। सीता के यह कहने पर कि 'माते पृथिवी! मुझे अपने अङ्गों में विलीन कर ले' भागीरथी उसे शांत करने का प्रयास करती है-

भागीरथी-शान्तम्। अविलीना संवत्सरसहस्राणि भूयाः।।

देव्यौ-जगन्मङ्गलमात्मानं कथं त्वमवमन्यसे।

आवयोरपि यत्सङ्गात् पवित्रत्वं प्रकृष्यते।[21]

तत्पश्चात दोनों देवियों द्वारा लव-कुश को जृम्भकास्त्र प्राप्ति, बालकों के क्षत्रियोचित संस्कार हेतु वाल्मीकि को सौंपना (तौ हि वत्सौ स्तन्यत्यागपरेण भगवतोवाल्मीकेरर्पयिष्यामि। स एतयोः क्षत्रकृत्यं करिष्यति) तथा जल से सीता का दोनों देवियों के साथ निकलना सामाजिक को जहाँ विस्मय में डालता है वहीं कवि भवभूति ने आलोड़न से क्षुभित भागीरथी के जल का अत्यन्त हृदयावर्जक वर्णन किया है-

मन्थादिव क्षुभ्यति गाङ्गमम्भो व्याप्तं च देवर्षिभिरन्तरिक्षम्।

आश्चर्यमार्या सह देवताभ्यां गङ्गामहीभ्यां सलिलादुदेति।[22]

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि महाकवि माघ ने जो नूतनता के विषय में कहा - क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। भवभूति वासंती के माध्यम से कहते हैं-

नवकुवलयस्निग्धैरङ्गैर्ददन्नयनोत्सवं

सततमपि नः स्वेच्छादृश्यो नवो नव एव सः।

विकलकरणः पाण्डुच्छायः शुचा परिदुर्बलः

कथमपि स उन्नेतव्यस्तथापि दृशोः प्रियः।।[23]

यहाँ 'नवो नव एव' कहने का आशय यह है कि सौन्दर्य का महत्त्व इसी में है कि उसे जितनी बार भी देखा जाय, उसकी चिर नवीनता की अनुभूति होती है

ताकि उसे देखकर मन कभी न भरे, अन्यथा वह सुन्दर कैसे रह जाएगा? शब्दब्रह्मवेत्ता विद्वान् कवि भवभूति के द्वारा रचित उत्तररामचरितम् भी ऐसा ही नाटक है। बार-बार पढ़ने से नित नूतन तथ्य और परिदृश्य हमारे समक्ष आते हैं जिन पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार करना अपेक्षित है। जगत् की माता गंगा की तरह मंगलकारिणी तथा मनोहर रामायण की यह कथा लोक को पापों से पवित्र करती है और कल्याणों की वृद्धि करने वाली है।

संदर्भ -

1. *वही, 1/12*
2. *वही, 2/14*
3. *वही, 2/30*
4. *वही, 1/26*
5. *वही, 3/18*
6. *वही, 7/21*
7. *वही, 3/1*
8. *पुटपाक- वैद्य दो पात्रों (शराब आदि) के अंदर कोई औषध अथवा सुवर्ण आदि रखकर ऊपर से गिट्टी लेपकर आग में रख तेते हैं जिससे भीतर ही भीतर उसका परिपाक होता है। तैयार होने पर उसे रस की संज्ञा दी जाती है। ठीक वही दशा श्रीराम की भी है। सीता का वियोग उनके हृदय को भीतर-ही-भीर जला रहा है। गंभीर प्रकृति के व्यक्ति होने के कारण राम अपनी व्यथा किसी के समक्ष अभिव्यक्त कर हृदय को हल्का भी नहीं करते हैं।*
9. *वही, 3/2*
10. *वही, 3/3*
11. *सङ्ख्यामङ्गलगन्थिः यह बच्चों के प्रत्येक जन्म दिवस पर मनाया जानेवाला एक उत्सव है। इस दिन स्त्रियाँ एक डोरे में उतनी ही गाँठें लगाती हैं जितने वर्ष का बच्चा हो चुका है और उस डोरे को बच्चे की कलाई में गुग्गुल, निम्ब, सफेद सरसों, दूर्वा और गोरोचन आदि मङ्गलवस्तुओं के सहित बाँध देती है। इसी उत्सव को आज हम जन्मदिन, जन्मगाँठ या वर्षगाँठ कहते हैं।*

    विद्यासागर के अनुसार, संख्याबोधको मङ्गलार्थोग्रन्थिः, अतीव वर्ष समसङ्ख्याङ्क

ग्रथिमतः सूत्रमिति यावत्। जन्मतिथौ हस्ते सूत्रमभिबध्यते तच्च सूत्रं जन्मग्रन्थिरुच्यते ।

वीरराघव कहते हैं- सङ्ख्यापूर्तिहेतुकमङ्गलग्रन्थिकरे पट्टसूत्रादिना स्त्रियोग्रन्थिं कुर्वन्ति । स तु करे वलयरूपेण तिष्ठतीत्युपदेशः ।

घाटेशास्त्री का मत हैं- बालाजन्मवर्षदिने सूत्रे एको ग्रन्थिवर्षणगनाय बध्यत इत्याचारः बालहस्ते बध्यत इतिव्याखनं भ्रममूलकमेव ।

12. *वही, 3/6*
13. *वही, 3/10*
14. *वही, 3/17*
15. *वही, 3/23*
16. *याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/84 14-*
17. *उत्तररामचरितम् 3/29*
18. *वही, 3/30*
19. *वही, 3/47*
20. *वही, 7/8*
21. *वही, 7/16*
22. *वही, 3/22*
23. *वही, 7/20*

15

प्रतिमानाटक एवं अभिषेकनाटक में राम

रंजना यादव

महाकवि भास के द्वारा राम-कथाश्रित दो रूपक- प्रतिमानाटक एवं अभिषेकनाटक की रचना की गयी है। इन रूपकों की कथावस्तु रामायण कथा से संगृहीत की गयी है। वाल्मीकि रामायण संस्कृत-साहित्य का आदि महाकाव्य है। यह महाकाव्य वस्तुतः भारतीय संस्कृति का शाश्वत व्याख्यान है। रामायण ऐसा उत्कृष्ट ग्रन्थ है जिससे संस्कृत भाषा के ही नहीं, अपितु विभिन्न भाषाओं के कवियों ने भी अपनी प्रतिभा-शक्ति से पर्याप्त सामग्री ग्रहण की है। आदिकाव्य का सृजन करुण रसमयी वाणी से हुआ; जब तमसा नदी के तट पर महर्षि वाल्मीकि ने एक व्याध को युगल क्रौञ्च पक्षी में से नर पक्षी को मारते हुए देखा तो उनके मुख से अकस्मात् यह श्लोकात्मक वाग्-वैखरी प्रस्फुटित हुई

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम्।।[1]

वाल्मीकि-रामायण में चौबीस हजार श्लोक हैं तथा यह सात काण्डों- बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड में विभक्त है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के सम्पूर्ण जीवन का काव्यात्मक वर्णन है। महर्षि वाल्मीकि क्रौञ्चवध की घटना के अनन्तर नारदमुनि से रामायण महाकाव्य की रचना करने के लिए अलौकिक गुणों से युक्त किसी नायक के विषय में पूछते हैं। उनके प्रश्नों को सुनकर नारदमुनि श्रीराम के चरित के विषय में बताते हैं।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी।।[2]

अर्थात् इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न एक ऐसे महापुरुष हैं, जो राम नाम से प्रसिद्ध हैं। वे महावीर, कान्तियुक्त, धैर्यवान् और इन्द्रियों को वश में रखने वाले हैं।

हिन्दी-साहित्य के कवि गोस्वामी तुलसीदास राम के अनन्य भक्त हैं। श्रीराम उनके आराध्य देव हैं। राम के चरित्र के विशेषताओं को विभिन्न रूपों में प्रकाशित करने के लिए उन्होंने राम-कथा सम्बन्धी सात ग्रन्थों- रामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, जानकीमंगल, रामललानहछू, रामाज्ञाप्रश्न और बरवै रामायण का प्रणयन किया। अपने सभी राम-कथा काव्यों में उन्होंने राम को ही नायक बनाया है। 'रामचरितमानस' के राम नायक ही नहीं, अपितु लोक-नायक और विश्व-नायक भी हैं। वे निराकार, निर्गुण, अज, मायातीत, सर्वव्यापी और शक्तिमान् हैं तथा ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के लिए भी अगम्य है

जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे।।[3]

राम-कथा पर आधृत रामायण वस्तुतः एक उपजीव्य महाकाव्य है, जिसे आधार बनाकर न केवल महाकाव्यों की रचना हुई बल्कि संस्कृत-साहित्य के विभिन्न नाटकों तथा चम्पूकाव्यों का भी प्रणयन हुआ। संस्कृत-साहित्य के ही नहीं अपितु हिन्दी-साहित्य के बहुशः कविवृन्द राम-कथा को आधार बनाकर अपनी रचना शैली को पूर्ण किया है।

संस्कृत के रामकथाश्रित प्रमुख ग्रन्थ

1. कालिदासकृत रघुवंशमहाकाव्यम् 2. प्रवरसेन सेतुबन्धमहाकाव्यम् 3. भट्टि रावणवधमहाकाव्यम् 4. कुमारदास जानकीहरणमहाकाव्यम् 5. अभिनन्द रामचरितमहाकाव्यम् 6. क्षेमेन्द्र रामायणमञ्जरी 7. वामनभट्ट बाण रघुनाथचरितकाव्यम् 8. भास प्रतिमानाटक, अभिषेकनाटक 9. दिङ्नाग कुन्दमाला 10. शक्तिभद्र आश्चर्यचूड़ामणि 11. भवभूति महावीरचरितम्, उत्तरामचरितम् 12. मुरारि अनर्घराघवम् 13. राजशेखर बालरामायणम् 14. जयदेव प्रसन्नराघवम् 15. भोजराज रामायण-चम्पू 16. वेज्टाध्वरि उत्तरचम्पू

प्रतिमानाटक की कथावस्तु :

प्रस्तुत रूपक की कथावस्तु इक्ष्वाकुवंशीय मृत नृपतियों के 'प्रतिमा-निर्माण' की घटना से है। प्रतिमा के दर्शन से ही राजकुमार भरत को दशरथ की

मृत्यु का बोध हो जाता है। इस नाटक में राम के राज्याभिषेक से आरम्भ कर चौदह वर्षों का वनवास तथा अयोध्या लौटकर पुनः उनके राज्याभिषेक का कथानक समाविष्ट है। प्रकृत रूपक में दशरथ राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करने की घोषणा करते हैं परन्तु सहसा अभिषेक पटह बन्द हो जाता है। यह सुनकर वल्कल धारण की हुई सीता शर्जित होती है। राम का अभिषेक रोककर उन्हें वन जाने की आज्ञा मिलती है तथा भरत को राजपद प्राप्त होता है। इस अमंगल वचन को सुनकर महाराज दशरथ मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। तदनन्तर क्रोधावेश में लक्ष्मण राम को दशरथ से राज्य छीन लेने के लिए कहते हैं। राम उनका क्रोध शान्त करते हैं, तथा लक्ष्मण के बहुत आग्रह करने पर वे सीता और लक्ष्मण को साथ लेकर वन की ओर प्रस्थान करते हैं। राजा दशरथ राम को वनवास से विरत करने के लिए बहुशः प्रयत्न करते हैं। कौशल्या और सुमित्रा उन्हें विविध प्रकार से सान्त्वना देती हैं तथा राम के वन से वापस न आने का समाचार सुनकर राजा दशरथ मूर्च्छित हो जाते हैं तथा अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं

गतो रामः, प्रियं तऽस्तु, त्यक्तोऽहमपि जीवितैः।
क्षिप्रमानीयतां पुत्रः पापं सफलस्त्विति।।[4]

दिवंगत इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं की प्रतिमा की स्थापना के परम्परानुसार राजा दशरथ की प्रतिमा स्थापित की जाती है। ननिहाल से आये हुए भरत प्रतिमागृह में दशरथ की प्रतिमा देखकर मूर्च्छित हो जाते हैं। उन्हें देवकुलिक राम के वनवास आदि की कथा बतलाता है, इसी समय कौशल्या आदि रानियाँ प्रतिमा के दर्शनार्थ आती हैं। भरत कौशल्या से स्वयं को निरपराध बतलाते हैं तथा अपनी माँ कैकेयी को कोसते हैं। वामदेव, वशिष्ठ आदि महर्षिगण उनका युवराजपद पर अभिषेक करना चाहते हैं परन्तु भरत राज्य अस्वीकार कर राम को वापस लाने के लिए वन की ओर प्रस्थान करते हैं

स्वर्गे गते नरपतौ सु कृतानुयात्रे पौराश्रुपातसलिलेरनुगम्यमानः।
द्रष्टुं प्रयाम्य कृपणेषु तपोवनेषु रामाभिधानमपरं जगतः शशार्ज्म।।[5]

भरत सारथि सुमन्त्र के साथ वन में जाते हैं तथा राम से अयोध्या वापस चलने के लिए आग्रह करते हैं। राम पिता के सत्य की रक्षा करने के लिए भरत को समझाते हैं तथा भरत उनकी चरण-पादुका लेकर चौदह वर्ष के अनन्तर राम से राज्य-ग्रहण करने का भी वचन लेकर अयोध्या वापस आ जाते हैं।

पादोपभुक्ते तव पादुके म एते प्रयच्छ प्रणताय मूर्ध्ना।
यावद् भवानेष्यति कार्यसिद्धिं तावद् भविष्याम्यनयोर्विधेयः।।[6]

तत्पश्चात् राम सीता से पिता दशरथ के श्राद्ध के बारे में कहते हैं। सीता उत्तर देती हैं कि नगर में भरत यथानुकूल श्राद्ध करेंगे, आप वन्य पुष्प-फलों से श्राद्ध कर लें। इसी बीच संन्यासीवेश धारण कर रावण उपस्थित होकर स्वयं को काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण बताता है। श्रीराम उससे श्राद्ध के विषय में पूँछते हैं तो वह पितरों की तुष्टि के लिए हिमालय के सप्तम शृंग पर स्थित काञ्जनमृग को बताता है। तत्क्षण तथाकथित मृग दिखायी देता है एवं राम उसे पकड़ने जाते हैं। सीता को अकेला देख रावण अपने वास्तविक रूप को प्रकट कर उनका अपहरण कर लेता है। सीता को ले जाते देख गृद्धराज जटायु रावण से युद्ध करता है परन्तु रावण उन्हें प्रहार कर गिरा देता है।

राम का पता लगाने हेतु सुमन्त्र अयोध्या लौटकर भरत को सीताहरण की घटना बताते हैं। भरत इस समाचार से व्यथित होकर कैकेयी को उलाहना देते हैं। कैकेयी कहती हैं कि महाराज को मिले शाप की सत्यता के लिए राम को वनवास दिया है; मैं मात्र चौदह दिनों का वनवास माँग रही थी परन्तु मन की व्याकुलता से चौदह वर्ष मुँह से निकल गये। भरत सत्य को जानकर माता कैकेयी से क्षमा-याचना करते हैं।

तदनन्तर तापस के मुख से ज्ञात होता है कि राम ने रावण का वध करके लंका के राज्य पर विभीषण को अभिषिक्त किया है। लक्ष्मण सेना और परिजन सहित भरत के आगमन की सूचना देते हैं। सबके समक्ष भरत अपने अग्रज राम को राज्य-भार सौंपते हैं तथा कैकेयी की आज्ञा से राम राज्याभिषेक स्वीकार करते हैं

स्वर्गेऽपि तुष्टिमुपगच्छ विमुञ्च दैन्यं कर्म त्वयाभिलषितं मयि यत् तदेतत्।
राजा किलास्मि भुवि सत्कृतभारवाही धर्मेण लोकपरिरक्षणमभ्युपेतम्।।[7]

इसके पश्चात् रावण के पुष्पकविमान पर आरुढ़ होकर अयोध्या के लिये प्रस्थान करते हैं। भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

अभिषेक नाटक की कथावस्तु :

अभिषेक नाटक का आधार किष्किन्धाकाण्ड से आरम्भ कर लंकाकाण्ड पर्यन्त तक की घटना से है। इसमें सुग्रीव और श्रीराम का अभिषेक होने से प्रस्तुत

रूपक का नामकरण सटीक हुआ है। रूपककार भास ने रामायण की कथा को अपने नूतन कल्पना-समन्वय से परिवर्तित कर श्रीराम के उदात्त चरित्र के प्रति सामाजिकों का ध्यान आकृष्ट किया है। प्रस्तुत रूपक का प्रारम्भ सीताहरण के पश्चात् सुग्रीव तथा बाली के द्वन्द्व युद्ध से होता है। युद्ध में बाली के सबल पड़ने से श्रीराम उस पर शरसन्धान कर देते हैं तथा बाली धराशायी हो जाता है। बाली राम से कहता है कि आप धर्म के परमज्ञाता है, इस प्रकार अधर्म मार्ग का अनुसरण कर मेरा वध करना उचित था? राम उत्तर देते हैं कि तुमने अनुज की पत्नी के साथ अभिगमन किया है इस अपराध से तुम वध्य हो। यह सुनकर बाली क्षमा-याचना करता है तथा उसका प्राणान्त हो जाता है। राम के आदेशानुसार लक्ष्मण किष्किन्धा राज्य पर सुग्रीव का अभिषेक करते हैं। तदनन्तर राजा सुग्रीव सीता के अन्वेषणार्थ वानर-सेना को प्रेषित करते हैं। जटायु से सीता का समाचार जानकर हनुमान् समुद्र लाँघकर लंका में प्रवेश करते हैं तथा अशोक-वाटिका में सीता से साक्षात्कार करते हैं। हनुमान् सीता से राम का वृत्तान्त तथा उनके वियोग का वर्णन करते हैं।

अनशनपरितप्तं पाण्डु स क्षामवक्त्रं तव वरगुणचिन्तावीतलावण्यलीलम्।
वहति विगतधैर्यं हीयमानं शरीरं मनसिजशरदग्धं वाष्पपर्याकुलाक्षम्।।[8]

सीता से मिलने के पश्चात् हनुमान अशोक वाटिका को विध्वंस कर देते हैं तथा इसकी सूचना दूत रावण को देते हैं। रावण, हनुमान् का वध करने के लिए सेना भेजता है। हनुमान् सभी सैनिकों का वध कर देते हैं। इसके बाद मेघनाद हनुमान् को युद्ध में बाँधकर रावण के समक्ष प्रस्तुत करता है। हनुमान् स्वयं को रामदूत बतलाते हैं तथा राम के पराक्रम का वर्णन करते हैं। विभीषण पुनः राक्षसकुल के रक्षार्थ रावण से सीता को वापस करने की प्रार्थना करता है। रावण उसे फटकार भगा देता है एवं विभीषण राम के शरणागत होते हैं

अद्यैव तं कमललोचनमुग्रचापं रामं हि रावणवधाय कृतप्रतिज्ञम्।
संश्रित्य संश्रितहितप्रथितं नृदेवं नष्टं निशाचरकुलं पुनरुद्धरिष्ये।।[9]

तत्पश्चात् समुद्र पार करने की योजना में विभीषण समुद्र पर दिव्यास्त्रों के प्रयोग की सलाह देता है। सम्पूर्ण वानर सेना समुद्र पार उतरकर सुमेरु पर्वत पर शिविर बनाकर विश्राम करती है। सेना की गणना में दो अधिक वानर दिखाई पड़ते हैं तथा विभीषण उन्हें शुक कौर सारण राक्षस के रूप में पहचान लेते हैं। राम दोनों राक्षसों के द्वारा अपना सन्देश भेजते हैं

मम दारापहारेण स्वयङ्ग्राहितविग्रहः।
आगतोऽहं न पश्यामि द्रष्टुकामो रणातिथिः।।[10]

तदनन्तर युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। रावण के प्रमुख वीर कुम्भकरण आदि मारे जाते हैं। रावण राम और लक्ष्मण की प्रति कृति सीता को दिखाकर उनकी मृत्यु की सूचना देता है। सीता यह देखकर विलाप करने लगती है तभी रावण को इन्द्रजीत के वध का समाचार मिलता है, इस सूचना से वह मूर्च्छित हो जाता है एवं सचेत होने पर सीता का वध के लिए उद्यत होता है परन्तु उपस्थित राक्षस उसे स्त्री-वध से रोकते हैं। अन्त में राम-रावण का भीषण युद्ध होता है। रावण युद्ध में मारा जाता है तथा विभीषण को लङ्क के राजपद पर अभिषिक्त किया जाता है

हत्वा रावणमाहवेऽद्य तरसा मद्बाणवेगार्दितं
त्वा चापि विभीषणं शुभमतिं लंकेश्वरं साम्प्रतम्।
तीर्त्वा चौवमनल्पसावचरितं दोर्भ्यां प्रतिज्ञार्णवं
लङ्कामभ्युपयामि बन्धुसहितः सीतां समाश्वासितुम्।।[11]

इसके उपरान्त सीता राम के समक्ष लायी जाती हैं। राम उन्हें राक्षसकुल में रहने के कारण त्याज्य समझते हैं। अपने पातिव्रत्य धर्म की परीक्षा हेतु सीता अग्नि में प्रवेश करती है तथा स्वयं अग्निदेव उन्हें लेकर उपस्थित होते हैं और सीता की पवित्रता का प्रमाण देते हैं। राम पिता के आज्ञानुसार सीता को स्वीकार करके अयोध्या के राजपद को ग्रहण करते हैं।

येनाऽहं कृतमङ्गलप्रतिसरो भद्रासनारोपितो-
कृऽप्यम्बायाः प्रियमिच्छता नृपतिना भिन्नाभिषेकः कृतः।
त्यक्तं दैवगतिं गतेन गुरुणा प्रत्यक्षतः साम्प्रतं
तेनैवाद्य पुनः प्रहृष्टमनसा प्राप्ताभिषेकः कृतः।।[12]

अन्ततः भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है। रूपककार भास ने 'अभिषेकनाटक' में राम के अवतारत्व की कल्पना की है एवं 'प्रतिमानाटक' में राम को अलौकिकता से मानवीय धरातल पर उतारने का मौलिक प्रयास किया है।

सन्दर्भ –

1. *वाल्मीकि रामायण- 1/2/15, गीताप्रेस गोरखपुर, उ.प्र., वर्ष 2015*
2. *वाल्मीकि रामायण- 1/1/8, गीताप्रेस गोरखपुर, उ.प्र., वर्ष 2015*

3. रामचरित- 2/127/1, गीताप्रेस गोरखपुर, उ.प्र., वर्ष 2016
4. प्रतिमानाटकम्- 2/20, भासनाटकचक्रम्, आचार्य बलदेव उपाध्याय, द्वितीय भाग, प्रकाशन- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, वर्ष 2017
5. प्रतिमानाटकम् - 4/1
6. प्रतिमानाटकम्- 4/25
7. प्रतिमानाटकम्- 7/11
8. अभिषेकनाटक- 2/21, भासनाटकचक्रम्, डॉ. सुधाकर मालवीय, प्रथम भाग, प्रकाशन- चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, वर्ष 2017
9. अभिषेकनाटक- 3/27
10. अभिषेकनाटक- 4/22
11. अभिषेकनाटक- 6/19
12. अभिषेकनाटक- 6/34

16

कालिदास के नाटकों में आयुर्वेदीय विवेचन

पूजा कुमारी

गोपाल लाल मीणा

भारतीय ज्ञान परम्परा में आयुर्वेद अनादि एवं शाश्वत विद्या के स्वरूप में विद्यमान है। जब ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि का निर्माण प्रसंग आता है तो वहाँ ब्रह्मा द्वारा इस जीवन शास्त्र का स्मरण ही इसकी शाश्वता एवं मौलिकता का प्रमाण दिखाई पड़ता है। आयुर्वेदीय ग्रंथों में साध्य एवं असाध्य रोगों की चिकित्सा के लिये विभिन्न प्रकार कि औषधियों एवं चिकित्सा का बृहत्त्रयी(चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टाङ्गहृदय) में विस्तार रूप से वर्णन मिलता है। इसी के साथ हि वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य के ग्रंथों में भी रोग निवारण के लिये विभिन्न चिकित्सा पद्धति तथा औषधियों का वर्णन मिलता है जैसे कालिदास द्वारा रचित ग्रंथों में भी आयुर्वेदिक दृष्टिकोण का स्वरूप परिलक्षित होता है। इस दृष्टिकोण से जब हम संस्कृत वाङ्मय के अति महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीन ग्रंथों की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हैं तो महाकवि कालिदास के नाटक साहित्य और आयुर्वेदशास्त्र के प्रचुर सिद्धांतों में साम्य दृष्टिगत होता है। कालिदास द्वारा रचित अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् और मालविकाग्निमित्रम् नाटक में बताया गया है कि किस प्रकार रोग निवारण प्रक्रिया करनी चाहिये। इसी के साथ ही नेत्र रोग, सर्प विष निवारण एवं आहारचर्या के साथ हिव्यायाम(मृगया) का भी वर्णन प्राप्त होता है। कालिदास द्वारा रचित अन्य ग्रंथ रघुवंशम्, कुमारसम्भवम् महाकाव्य तथा ऋतुसंहारम्, मेघदूतम्, गीतिकाव्य में भी आयुर्वेदिक औषधियां और रोग निवृत्ति की विभिन्न

चिकित्सा प्रणालियों का वर्णन मिलता है।[1] जनसाधारण के पास ज्ञान प्राप्त करने के उचित माध्यमों के अभाव को ध्यान में रखकर इस शोध पत्र में स्वास्थ्य के संरक्षण से संबंधित विषयों पर प्रकाश डालने का लघु प्रयास किया गया है। महाकवि कालिदास द्वारा रचित नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् और मालविकाग्निमित्रम्नाटक में वर्णित आयुर्वेदीय पक्षों का भी शोध पत्र मे विस्तार रूप से वर्णन किया जायेगा।[2]

महाकवि कालिदास के नाटकों में आयुर्वेदीय दृष्टिकोण

महाकवि कालिदास द्वारा रचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् संस्कृत साहित्य का अत्यधिक लोकप्रिय नाटक रहा है। इसके द्वितीय अंक में मृगया (शिकार खेलना) को व्यायाम के समान देखा जा सकता है अर्थात् जब व्यायाम करते हैं, तब शरीर में थकावट महसूस होती है उसी प्रकार की थकावट मृगया (शिकार) करते समय होती है। विदूषक मृगया (शिकार) का वर्णन करते हुये राजा से कहता है -

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः।।[3]

अर्थात् जब मृगया(शिकार) करते है, तब शरीर में चर्बी का धीरे-धीरे नाश होने लगता है और शरीर कृश व हल्का होकर आसानी से उठने योग्य हो जाता है। प्राणियों के भय और क्रोध के कारण विकारयुक्त चित्त भी परिलक्षित होते हैं और चंचल लक्ष्य पर बाण साध लेते हैं, वह धनुर्धारियों का उत्साह ही होता है। लोग व्यर्थ ही शिकार को व्यसन कहते हैं, ऐसा मनोरंजन भला कहाँ संभव है। इस श्लोक के माध्यम से देखा जा सकता हैं कि मृगया (शिकार) करते समय शरीर में होने वाली शारीरिक क्रिया व्यायाम का एक रूप है। व्यायाम का आयुर्वेद में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। आयुर्वेद के बृहत्त्रयी ग्रंथ (चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांगहृदय) में व्यायाम के विभिन्न स्वरूपों और व्यायाम के लाभ एवं हानि का वर्णन निम्नलिखित रूप से प्राप्त होता है-

आचार्य सुश्रुत के अनुसार व्यायाम

सुश्रुत संहिता के चिकित्सा स्थान अध्याय चतुर्विंशति में व्यायाम का वर्णन मिलता है। व्यायाम को परिभाषित करते हुए आचार्य सुश्रुत कहते हैं-

शरीरायासजननं कर्म व्यायाम संज्ञितम्।
तत् त्वा तु सुखं देहं विमृद्गीयात् समन्ततः।।[4]

अर्थात् शरीर में थकान लाने वाली चेष्टाएं (क्रियाएं) व्यायाम(physical exercise) कहलाती हैं। व्यायाम करने के पश्चात् संपूर्ण शरीर को सुखपूर्वक मर्दन (मालिश) करना चाहिए।

आचार्य चरक के अनुसार व्यायाम

आचार्य चरक व्यायाम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी। देहव्यायामसंख्याता मात्र्या तां समाचरेत्।।[5]

अर्थात् वह मनोनुकूल क्रिया जो शरीर में स्थिरता और बल को बढ़ाती है, उसे व्यायाम कहते हैं। व्यायाम शरीर के अनुकूल उचित मात्रा में ही करना चाहिए। अति व्यायाम शरीर के लिये हानिकारक हो सकता है। इसके साथ ही शरीर में थकावट आने तक व्यायाम करना चाहिए।[6]

आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार व्यायाम

आचार्य वाग्भट्ट कहते हैं कि- **लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः विभक्तधनमात्रत्वं व्यायामाते।** अर्थात् व्यायाम करने से शरीर में कार्य शक्ति की क्षमता बढ़ती है और जठराग्नि व पाचन अग्नि प्रदीप्त होती है, साथ ही शरीर की स्थूलता(मोटापा) का क्षय होता है व अंग प्रत्यंग(मांसपेशियां) मजबूत होते हैं।[7] व्यायाम विधि को बताते हुये आचार्य वाग्भट्ट कहते है कि- **अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभिरू स्निग्धभोजिभिः। शीतकाले वसन्तेच, मन्दमेव ततोन्यदा।।**[8] अर्थात् जों मनुष्य बलवान है और दिनचर्या के अनुसार स्निग्ध(घी-तेल से बना भोजन और बादाम व काजू) पदार्थों का सेवन करता है वह सदा स्वस्थ रहता है। स्वस्थ मनुष्य को शीतकाल व बसन्त ऋतु में अर्ध शक्ति भर (अर्थात् व्यायाम करते समय जब ललाट, नासिका व हाथ–पैरों की सभी सन्धियों में पसीना आने लगे और मुख सूखने लगे तब शरीर अर्ध शक्ति युक्त हो जाता है) व्यायाम करना चाहिये और अन्य ऋतुओं मे सामान्य रूप से कम व्यायाम करना चाहिये। व्यायाम करने के बाद शरीर के अंङ्गो को मसलना चाहिये।[9]

व्यायाम का लाभ

आयुर्वेदीय महर्षियों के अनुसार व्यायाम से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं जैसे-

- व्यायाम से शरीरोपचय(सम्यक् पुष्टि) Bodily nourishment होता है,

- शरीर में कान्ति (आकर्षणशीलता) Gracefulness आती है,
- शरीर का समान रूप से विकास होता है,
- जठराग्नि प्रदीप्त होती है,
- शरीर अनालस्य होता है और फुर्तीला बनता है,
- शरीर में स्थिरता(Firmness) आती है,
- शरीर में हल्कापन, श्रम, प्यास, गर्मी और सर्दी को सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है और शरीर सदैव आरोग्य बना रहता है।[10]

व्यायाम शरीर के स्थौल्य (मोटापा) को कम करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है, इससे शरीर में सहसा बुढ़ापा नहीं आता है और शरीर की मांसपेशियां स्थिर व स्वस्थ बनी रहती हैं।[11] प्रतिदिन व्यायाम करने से मनुष्य शरीर में रूप और गुणों में सुंदरता आती है एवं दिनचर्या के विरुद्ध किया गया आहार-विहार भी भली-भांति पच जाता है। पौष्टिक तथा स्निग्ध आहार करने वाले व्यक्ति के लिए व्यायाम करना सदा श्रेष्ठकारी होता है।[12] बलार्ध रूप से किया गया व्यायाम शरीर के लिये लाभकारी होता है, बलार्ध का तात्पर्य है व्यायाम करते समय हृदय में स्थित प्राणवायु का मनुष्य के मुख तक आना।[13] इससे शरीर में बल क्षमता में वृद्धि होती है।

व्यायाम से रोग निवृत्ति

आयुर्वेदीय आचार्यों के अनुसार व्यायाम करने से मनुष्य का शरीर स्वस्थ बना रहता है और इसके साथ ही रोग रहित रहता है। आचार्य सुश्रुत बताते हैं कि किस प्रकार व्यायाम करने वाले मनुष्य के पास रोग नहीं आते हैं-

व्यायामस्विन्नगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्त्तितस्य च।
व्याधयों नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव।।[14]

अर्थात् व्यायाम करते हुये जब शरीर में पसीना आने लगे और पैरों को अभ्यंग (क्रिया) कराने पर व्याधियां (रोग) मनुष्य के समीप उसी प्रकार नहीं आती है जिस प्रकार क्षुद्र मृग शेर के पास नहीं आते हैं।

व्यायाम विधि

आयुर्वेदीय आचार्य व्यायाम करने की विधि का वर्णन करते हुये कहते हैं कि मनुष्य को दिनचर्या व ऋतुचर्या के अनुसार व्यायाम करना चाहिए। बलवान व्यक्ति के लिये शीत एवं वसंत ऋतु में व्यायाम श्रेष्ठकारी होता है। स्वस्थ मनुष्य को प्रतिदिन सभी ऋतुओं में अर्द्ध बल तक व्यायाम करना चाहिए अन्यथा अनियमित

व्यायाम मनुष्य के लिये हानिकारक हो सकता है।[15] व्यायाम करने वाले मनुष्य को अपनी आयु, बल, शरीर, देश, काल और आहार को ध्यान में रखकर व्यायाम करना चाहिए नहीं तो शरीर में रोग विकार उत्पन्न हो सकते हैं।[16]

अतिव्यायाम के दुष्प्रभाव

आयुर्वेदीय आचार्य अति व्यायाम के दुष्प्रभाव का वर्णन करते हुये कहते हैं-

क्षयतृष्णारुचिच्छर्दिरक्तपित्तभ्रक्लमाः।
कासशोषज्वरश्वासा अतिव्यायामसम्भवाः।।[17]

अर्थात् यदि कोई मनुष्य अधिक व्यायाम करता है, तो उसके शरीर पर नकारात्मक प्रभाव पड़ते हैं, ये निम्नलिखित है-

- प्यास और अरुचि, मन व इंद्रियों में शीतलता आना
- वमन, रक्तपित में वृद्धि होना
- धातुओं का क्षय होना (consumption),
- शरीर में थकावट आना
- शोख, कास और ज्वर व श्वास सम्बन्धि इत्यादि रोग अति व्यायाम करने से उत्पन्न हो सकते हैं।[18]
- जो मनुष्य वातज व पित्त रोगों से पीड़ित हो और अजीर्ण रोग से पीड़ित हो ऐसे मनुष्य को व्यायाम नहीं करना चाहिए।[19]
- भोजन के तुरंत बाद और भूख-प्यास, तृषा, भय, क्रोध व शोक से पीड़ित व्यक्ति को व्यायाम नहीं करना चाहिए।[20]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में विकार(रोग) निदान प्रक्रिया

महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में बताया है कि किस प्रकार रोग की चिकित्सा करनी चाहिए। इसका वर्णन करते हुए अभिज्ञान-शाकुन्तलम् नाटक के तृतीय अंक में अनसूया शकुन्तला से कहती हैं कि - विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वानारम्भः प्रतीकारस्य।[21] अर्थात् अनसूया कहती है कि हे सखी शकुन्तला! तुम्हारा स्वास्थ्य हमे स्वस्थ प्रतीत नहीं हो रहा है। बताओ तुम्हारे संताप का क्या कारण है? क्योंकि रोग को ठीक प्रकार जाने बिना उसकी चिकित्सा को प्रारम्भ नहीं करना चाहिये।

इसी सन्दर्भ में कवि कालिदास द्वारा रचित विक्रमोर्वशीय नाटक में विदूषक राजा के लिए कहता है- **''असाध्य इति वैद्येनातुर इव स्वैरं मुक्तो भवांस्तत्र**

भवत्या''। अर्थात् जब रोग असाध्य स्थिति में पहुँच जाता है, तब वैद्य रोगी को खानपानादि से रोगी का स्वैर (मुक्त करना) छोड़ देता है अर्थात् जब रोगी की स्वस्थ होने की आशा होती है तो वैद्य नियम पूर्वक चिकित्सा करता है और खानपानादि के नियम रोगी को बताता है किंतु जब असाध्य रोग हो जाता है, तब वैद्य रोगी का खानपानादि से स्वैर (मुक्त करना) छोड़ देता है, उसी प्रकार उर्वशी ने आपसे स्वैर छोड़ दिया है।

कवि कालिदास ने इस पंक्ति में साध्य और असाध्य रोग की चर्चा की है। आचार्य चरक ने चरकसंहिता सूत्रस्थान (अध्याय-9) में, महर्षि सुश्रुत ने सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान (अध्याय-1,7,20,34), और महर्षि वागभट्ट ने अष्टाङ्गहृदयम् सूत्रस्थान (अध्याय-1) में साध्य और असाध्य रोगों का विस्तृत रूप से वर्णन किया है।

आयुर्वेदिक अनुसार रोग परीक्षण

आचार्य चरक कुशल चिकित्सक के विषय में कहते हैं-

शरीरं सर्वदा सर्वं सर्वदा वेद योभिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम्।।[23]

अर्थात् शरीर को सभी प्रकार से सदैव व पूर्ण रूप से जानने वाला चिकित्सक आयुर्वेद को सम्पूर्ण रूप से जानता है वही लोक मे सुख प्रदान कर सकता हैं। चिकित्सक को आयुर्वेद शास्त्र का समुचित रूप से ज्ञान होना अति आवश्यक है तभी रोग का निवारण कर सकता है और चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व सबसे पहले निदान तथा पूर्वरूप आदि के द्वारा रोग की परीक्षा करनी चाहिये। उसके बाद औषधि की गुणवत्ता और रोगानुकूलता की परीक्षा करनी चाहिये। तत्पश्चात् शास्त्रज्ञान तथा कर्माभ्यासजनित ज्ञानपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये।[24]

आचार्य सुश्रुतनिपुण चिकित्सक का वर्णन करते हुये कहते हैं-

शारीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः।
दृष्टश्रुताभ्यां संदेहमवापोहाचरेत क्रियाः।।[25]

अर्थात् एक निपुण चिकित्सक वही होता है जो शरीर के प्रत्यक्ष ज्ञान तथा सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र के सैद्धान्तिक ज्ञान दोनो में दक्ष हो क्योंकि देखकर व सुनकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह संदेह से रहित ज्ञान होता है। इसी सन्दर्भ में आचार्य वाग्भट रोग परीक्षण को बताते हुए कहते हैं कि रोग निवारण से पूर्व निदान, पूर्वरूप, लक्षण, उपशय तथा सम्प्राप्ति नामक रोगज्ञान के उपायों से रोग का परीक्षण करना चाहिए।[26]

रोग निदान उपाय

रोग निवारण के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण चिकित्सा प्रक्रिया है। आचार्य चरक ने चिकित्सा को परिभाषित करते हुये कहा है कि - जब शरीर में दोष-मल-धातु विकृत हो जाये तब उनकों सम करने के लिये वैद्य द्वारा किये गये उपायों को चिकित्सा कहते है।[27] चिकित्सा का सबसे प्रधान कारण वैद्य है। किसी भी रोग का साध्य (निवारण) तभी सम्भव है जब कुशल वैद्य होगा, क्योंकि एक निपुण वैद्य ही रोग की चिकित्सा कर सकता है और रोग का निवारण भी हो जाये और दूसरा रोग उत्पन्न न हो, वही चिकित्सा कर्म है। आचार्य सुश्रुत कुशल वैद्य की प्रशंसा करते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार कुशल कर्णधार भंवर में फंसी हुई नौका को बिना मल्लाहों की सहायता से डूबने से बचा लेता है उसी प्रकार अकेला गुणवान वैद्य रोग रूपी भंवर से फंसे हुए रोगी को व्याधि से बचा लेता है।[28] आचार्य चरक और सुश्रुतचिकित्सा के चार पाद का वर्णन करते हुये कहते हैं कि-

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
गुणवत् ज्ञेयं कारणं विकारव्युपशान्तये।।[29]

अर्थात् वैद्य, औषधद्रव्य, परिचारक और रोगी ये चिकित्सा के चार चरण है। जब ये चारों अपने–अपने गुणों से युक्त होते हैं, तभी सम्पूर्ण तरीके से रोग की निवृति हो सकती है। ये चारों पाद ही चिकित्सा के लिये उपयोगी है, एक भी पाद कम होने पर चिकित्सा हमेशा अधूरी रहेगी।

आचार्य सुश्रुत व्याधि को परिभाषित करते हुये कहते हैं कि- **तद्दुःख-संयोगा व्याधय उच्यन्ते**[30] अर्थात् व्याधि का तात्पर्य है रोग के कारण शरीर में कष्ट या वेदना होना व्याधि कहलाती हैं। आचार्य वाग्भट्ट व्याधि का वर्णन करते हुये कहते है- ''रोगस्तु दोषवैषम्यं, दोषसाम्यमरोगता अर्थात् जब शरीर में वात, पीत, और कफ तीनों दोषों की वैषम्य अवस्था(दोष का बढ़ना या कम होना) को व्याधि (रोग) कहते है। जब त्रि-दोष शरीर में वैषम्य रूप में होते हैं, तो मनुष्य किसी न किसी प्रकार के रोग से ग्रसित हो जाता है और जब त्रि-दोष सम अवस्था में रहते हैं, तो आरोग्य की प्राप्ति होती है। आचार्य चरक भी रोग(व्याधि) को बताते हुये कहते हैं कि - जब शरीर में त्रि-दोष(वात, पीत, और कफ) और रसादि सात धातुओं का विषम(अधिक या न्यून होना) ही विकार(रोग) कहलाता है और रोग होना ही दुःख

का कारण है तथा आरोग्य का नाम ही सुख है। जब धातुओं का प्रकृति स्वरूप मनुष्य शरीर में सम बना रहता है, तब शरीर स्वस्थ रहता है।[31]

मालविकाग्निमित्रम् नाटक में आहारकाल

कवि कालिदास द्वारा रचित मालविकाग्निमित्रम् नाटक में आहार की उपयोगिता बताते हुये द्वितीय अंक में विदूषक भोजनकाल को बताते हुए हरदन्त को कहता है कि- **उचितवेलातिक्रमे चिकित्सा का दोषमुदाहरन्ति।**[32] अर्थात् वैद्य (चिकित्सकों) के अनुसार नैत्यिक भोजनकाल का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए और जो मनुष्य समय पर भोजन नहीं करता उसके शरीर पर हानिकारक प्रभाव पडता है। अतः समय पर पौष्टिक भोजन करना चाहिए।

आहार चर्या के सन्दर्भ में आयुर्वेदीय आचार्य कहते हैं कि सभी प्राणियों को ऋतुचर्या और दिनचर्या के अनुसार आहार नियमों का पालन करना चाहिए। आचार्य वाग्भट्ट कहते हैं कि-

जीर्णे हितं मितं चाद्यान्न वेगानीरयेद्बलात।
न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम्।[33]

अर्थात् मनुष्य को नित्य कर्म (शौच, स्नानादि) और उसके पहले किए गए भोजन के पच जाने के पश्चात् हितकारी भोजन मात्रा के अनुसार करना चाहिए। मनुष्य को सदैव अपनी आवश्यकता के अनुसार ही आहार भोजन ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उचित मात्रा में किया गया भोजन जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। निर्धारित भोजन सदैव गुरु(भोजन पदार्थों की आधी तृप्ति) तथा लघु(भोजन पदार्थों की आधी तृप्ति) होने तक ही करना चाहिए और जितना भोजन सुख पूर्वक उदर में पच जाये उतना ही ग्रहण करना चाहिए।

भोजनकाल का उचित समय

आचार्य वागभट्ट और सुश्रुत भोजनकाल के उचित समय का वर्णन करते हुये कहते है कि स्वस्थ्य मनुष्य को आयुर्वेद में बताई गई नित्य दिनचर्या और ऋतुचर्या के अनुसार आहार ग्रहण करना चाहिए और जो मनुष्य अभी रोग से स्वस्थ हुआ हो तो उसको चिकित्सक के निर्देशानुसार सुपाच्य भोजन करना चाहिए तथा जिससे मनुष्य की जठराग्नि तीव्र ना हो, तो उसको पहले दिन दिये गये भोजनकाल के अनुसार दूसरे दिन भोजन करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य के शरीर में अजीर्णता नहीं आती है।[35]

आचार्य चरक भोजनकाल और भोजन की मात्रा का वर्णन करते हुये कहते हैं कि- **मात्राशी स्यात्। आहारमात्र पुनरग्निबलापेक्षिणी।।**[36]

मनुष्य को अपने समयानुसार मात्रापूर्वक भोजन करना चाहिए, क्योंकि मात्रापूर्वक किया हुआ आहार वात-पित्त-कफ को प्रभावित नहीं करता और समयानुसार किये गये भोजन से मनुष्य की आयु में वृद्धि होती है। आचार्य चरक कहते हैं कि मनुष्य को इतना ही आहार ग्रहण करना चाहिए की उदर में पीड़ा और भारीपन न हो, हृदय पर बोझ सा न लगे तथा मन, इन्द्रियाँ प्रसन्न रहें और उठने-बैठने, चलने, खड़े होने, श्वास और बातचीत करने में कोई कष्ट न हो, सबेरे का शाम तक और शाम का आहार सवेरे तक पच जाए तथा जिस आहार से शरीर में बल, वर्ण की वृद्धि हो उतनी ही मात्रा में भोजन करना चाहिए।

सन्दर्भ -

1. साहित्यिक सुभाषित वैद्यकम्, पृष्ठ, 4, 2. अभि. पृष्ठ, 23 3.वही 2/5
4. सु. सं. चि. 24/36, 5. च. सं. सू. 7/31, 6. वही, 8/18
7. अ.हृ.सू. 2/10, 8. वही, 2/11, 9. वही, 2/12,
10. सु. चि. 24/39-40, च. सं. सू. 7/32, अ.हृ.सू. 2/10
11. वही, 24/41-42, च. सं. सू. 7/32, 12. वही, 24/44
13. वही, 24/46, 14. वही, 24/43 15. वही, 24/47
16. वही, 24/48 17. वही, 24/50 18. च. सं. सू 8/33
19. अ. हृ. सू. 2/11, 20. सु. चि. 24/49
21. अभिज्ञानशाकुन्तलम् तृ. पृ. 138 22. विक्रमोर्वशीय तृ. पृ. 20
23. च. शा. 6/16, 24. च. सू. 20/20 25. सु. शा. 5/51
26. अ. हृ. सू. 1/22, 27.च. सू. 9/5, सु. सू. 34/15-16
28. सु. सू. 34/18, 29. च. सू. 9/3 30. सु. सू. 1/22
31.च. सू. 9/4 32. मालविकाग्निमित्रम् द्वि. पृ. 288
33. अ. हृ. सू. 2/19 34. वही, 1/2
35. अ. हृ. चि. 1/79-80, सु. उ. 39/46 36.च. सू. 5/3-4

17

भास की कृतियों में हास्य निरूपण

दशरथ कुमार चौधरी

हसितुं योग्यं हास्यम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार हसनार्थक अर्थ में हस् धातु से ण्यत् शब्द की व्युत्पत्ति होती है। जिसका अर्थ है हँसने योग्य[1] सामान्यतः ण्यत् के कृत्य प्रत्यय होने से तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः से इसे भाव और कर्म में होना चाहिए। वस्तुतः हास्य अपेक्षित अर्थ है जो सामाजिकों एवं प्रेक्षकों में हँसने कि क्रिया उत्पन्न करे। विकृत आकार, चेष्टा, अलंकार, चपलता अनुकृति आदि वनावटी विकृतियों के दर्शन या श्रवण से दर्शक या श्रोता को आनन्द प्राप्त होता हो उसे हास्य की संज्ञा देते हैं। हास्य के विषय में आचार्य भरतमुनि का मत है- **विकृत परवेषालङ्कार धार्ष्टलौल्यकुहकासत्प्रलाप ...।**[3] इनके मतानुसार हास्य का स्थायीभाव हास[4] है। इसे अन्य प्रकार से भी कहा जा सकता है कि हास का परिपोष ही हास्य है। हासस्य परिपोषो हास्यः। आचार्य विश्वनाथ ने भरत के मत का अनुसरण करते हुए कहा है कि - **विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद् भवेत्। हास्यो हास्यस्थायीभावः.....।।**[5] परन्तु भरत के परवर्ती आचार्यों के मत में हास्य चित्त का विकार नही अपितु विकास है। **प्रीतिर्विशेषः चित्तस्य विकासो हास उच्यते।**[6] इस विषय में दशरूपककार स्पष्ट रूप से कहते है कि चित्त का विकार चार प्रकार का होता है विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप।

स्वादः काभ्यार्थसम्भेदादात्मानन्द समुद्भवः।
विकास-विकार-क्षोभ-विक्षेपैः स चतुर्विधः।।[7]

आचार्य अभिनव गुप्त हास्य को रति आदि का आभास कहते हैं। क्योंकि अन्य आचार्यों ने हास्य को श्रृंगार से उत्पन्न माना है। श्रृंगाराद्धि भवेद्धास्यो। अतः

रत्याभास जनित चित्त विकार अथवा चित्त का विकास हास्य के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार विकार, विकास और आभास मूलतः भिन्न होते हुए भी सूक्ष्मतः अभिन्न हैं। अतः कहा जा सकता है कि विकृत वेष आदि के द्वारा उदय होने वाली चित्त की विकासावस्था का नाम हास्य है। नाना प्रकार के व्यंजन जिस प्रकार शरीर का पोषण एवं रसना की तृप्ति करते हैं उसी प्रकार काव्य रस आभ्यन्तर मानस का पोषण तथा हृदय की तृप्ति करते हैं। कहने का आशय यह है कि मानव जीवन को सुचारु रूप से चलाने हेतु भौतिक खाद्य सामग्री की जहाँ उपयोगिता है, वहीं मानसिक भाव सामग्री भी नितान्त अपेक्षित है और यही भाव सामग्री शब्दों में यदि उस आनन्दानुभूति को जीवन का लक्ष्य कह दिया जाये तो यह कोई अत्युक्ति न होगी। रसानुभूति की अवस्था में हमारा मन भौतिक रागद्वेष से विरत होकर सत्वावस्था में पहुँच जाता है जिसे आचार्यों ने रजोगुण और तमोगुण से असंस्पृष्ट अवस्था बतलाया है।

रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते।[8]

साहित्यदर्पणकार ने रस की परिभाषा देते हुए कहा है कि –

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसमिति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्।।[9]

अर्थात सहृदय पुरुषों के हृदय में विद्यमान वासना रूप रति अदि स्थायीभाव अनुभाव और संचारि भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस की दशा को प्राप्त होते हैं। प्रायः काव्यमनीषियों ने रसों की संख्या आठ निर्धारित की है –

शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः।
बीभत्साद्भूतसंज्ञौ चेष्टाष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।

आचार्य भरत ने हास्य की उत्पत्ति श्रृंगार से मानी है। परवर्ती आचार्यों ने भी भरत के मत को स्वीकार किया है परन्तु इसके देवता और वर्ण श्रृंगार से भिन्न है। हास्य का वर्ण श्वेत तथा देवता प्रमथ अथवा शिवगण माना है -

श्यामो भवित श्रृंगार-सितौ हास्य-प्रकीर्तितः।
शृंगारो विष्णु-दैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः।।[11]

हास्य के विभाव निश्चित रूप से वे ही माने जा सकेंगे जिनसे हास्य की प्रतीति हुआ करती है। इसके मूल में विकृति अनौचित्य या विपरीतता का ही वास रहता है। आचार्य भरत ने विकृत वेश, अलंकार, असत् प्रलाप, लोलुपता आदि को हास्य का विभाव माना है -

विकृतपरवेषालंकार-धार्ष्ट्यलौल्य-कुहकासत्प्रलाप
व्यंग्यदर्शन-दोषोदाहरणादिर्विभावैरुत्पद्यते ।।[12]

आचार्य विश्वनाथ ने आलम्बन और उद्दीपन हास्य के दो भेद किये हैं -

विकृताकार-वाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः ।
तमत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीप्यते मतम् ।।[13]

अनुभावः विकारस्तु भावसूचनात्मकः अर्थात् भावों के सूचक को अनुभाव कहा है। इसी प्रकार विपरीतता, असंगतता या असंबद्धता आदि कारणों से चित्त में उत्पन्न हुए हास नामक भाव को प्रकट करने वाले विकार अनुभाव कहे गये हैं। जो सभी रसों में संचरण करे वो संचारी भाव कहलाते है। आचार्य भरत के अनुसार अविहत्था, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न प्रबोध आदि हास्य के संचारी भाव माने हैं। भारतीय साहित्य में हास्य के विभावों का उल्लेख प्रधानतः शारीरिक आधार पर किया गया है। विदूषक के विषय में विकृत वेश भूषादि शारीरिक विकृति को ही हास्य का आधार बताया गया है।

भास की कृतियों में हास्य -

संस्कृत नाटकों में भास की गणना कालिदास के पूर्ववर्ती नाटककारों में की जाती है। सम्भवतः विदूषक की उत्पत्ति भी भास से हुई है और यही विदूषक अधिकांश नाटकों में हास्य का सृजक रहता आया है। विदूषक की परिभाषा देते हुए भास ने उसे जनसमूह के लिए हास्य का भण्डार बताया है।[14] **अविमारक** नाटक के द्वितीय अंक में चेटी का वार्तालाप हास्य का दर्शन कराता है। चतुरदासजी के साथ भोजन के समय विदूषक के अदृश्य होने की कथा हास्य से युक्त है। **अत्थि रामाअणं णाम णट्टसत्थं। तस्सिं पंच सुलोआ असम्पुण्णं संवच्छरे मए पठिदा। ....ण केवलं सुलोआ एव, तेसं अत्थो विमुणिओ। एदं अक्खरं मम पुत्थए णात्थि।**[15]

इसी प्रकार नाटक के पंचम अंक में जादू के मुद्रिका धारण कर जब विदूषक नायक आपनी प्रेयसी कुरंगी के अन्तः पुर में प्रवेश कर जाता है उस समय कुरंगी अत्यधिक पीड़ित है तथा आत्महत्या का प्रयास करती है। इसी समय सहानुभूति के लिए विदूषक भी सिसकने की चेष्टा करता है। किन्तु नेत्रों से एक भी अश्रु नहीं निकलता है तब विदूषक कहता है कि मेरे पिता की मृत्यु पर भी मेरे नेत्रों से आंसू नहीं निकले थे।

विदूषकः ... जदा में पिता उबरदो, तदा वि महन्तेण आरम्भेण रोदिदुं आरद्धो। बप्फं ण णिग्गच्छइ।[16] चारुदत्त का आमुख तो पूर्णतः विशुद्ध हास्य का परिचायक है। जब नटी सूत्रधार से कहती है कि वह घी, गुड़, दधि और चाँवल से युक्त श्रेष्ठ भोजन बनाना चाहती है। यह सुखद समाचार सुनकर सूत्रधार के मुख में पानी भर आता है। किन्तु वह उपयुक्त वस्तुओं के बारे में पूछता है कि ये वस्तुऐं घर में हैं। तो नटी सीधी साधी भाषा में कहती है – नहीं घर में तो नहीं, बाजार में है।

सूत्रधारः - अय्ये। किं अत्थि अवभत्थिदं। नटी घिदं गुलं दहिं तण्डुला अ अत्थि।
सूत्रधारः - एदं सव्वं अम्हाणं गेहे अत्थि। नटी - णहि णहि अन्तलावणे।[17]

प्रतिज्ञायोगेन्धरायण के तृतीय अंक के प्रारम्भ में विदूषक और उन्मत्तक में मोदकों की चोरी हो जाने के कारण लडाई होती है। सर्वप्रथम तो मोदक चुराकर भागते हुए उन्मत्तक की गली में वर्षा के जल पर उत्पन्न झाग से तुलना निश्चय ही हास्य जनक है।

विदूषकः- अविहा एसो उम्मत्तओ मम मोदअमल्लअं गहिणअ हसमाणो फेणायमाणमलिणवरिसारच्छोदअं विअ इदो एव्वाहावह। चिट्ठ चिट्ठ, उन्मत्तअ। चिट्ठ इमिणा दण्डअट्ठेण सीसं दे भिन्दामि।[18] इसके बाद विदूषक कड़े शब्दों का प्रयोग करते हुए उन्मत्तक के सिर को फोड़ डालने की धमकी देता है। लेकिन उसका शौर्य शीघ्र जी जबाव दे जाता है और वह तुच्छता तथा रोने पर उतारु हो जाता है।

विदूषकः – भो उम्मत्तअ। ण तुवं मम दहस्सिसि, विलविस्सं दाव अहं।[19] स्वप्नवासवदत्तम् नाटक में भी विदूषक की उक्तियों में हास्य की उद्भावना मिलती है। चतुर्थ अंक में अपच के कारण कोकिल के अक्षिपरिवर्त को अपने कुक्षि परिवर्त के असंगत उपमा वस्तुतः हास्य को प्रकट करने वाली है। इसी प्रकार पंचम अंक में भी विदूषक के कथन में हास्योक्ति मिलती है। विदूषक राजा से कहानी कहना प्रारम्भ करता है और शर्त यह रखता है कि राजा भी हुंकार करते रहें –

विदूषक - मोदु, अण्णं कहइस्सं। अत्थि णअरं बम्हदत्तं णाम। तहिं किल राजा कंपिल्लो णाम।[21] प्रतिमा नाटक के तृतीय अंक में सेवक सुधाकर नामक एक आलसी झाड़ू लगाने वालो को पीटता है। सुधाकर चिल्लाता है कि यह उसका दुर्भाग्य है कि कीर्तिवर्मा के समान एक सहस्र भुजायें नहीं हैं। सेवक पूछता है कि यदि तुम्हारे एक सहस्र भुजायें हों तो तुम क्या करोगे? सुधाकर शीघ्र उत्तर देता है – ''मैं तुम्हें मार डालूगाँ।''[22] चतुर्थ अंक में हास के एक सुन्दर अभिव्यक्ति होती है जब भरत चित्रकूट पहुंचते हैं तो वहाँ लक्ष्मण के

हाथ से पानी भरने का कलश छीनते हुए कहते हैं कि अब सेवा करने की मेरी वारी है उसी समय राम परिहास करते हुए सीता से कहते हैं - हे मैथिली! अब लक्ष्मण की नौकरी छूट गई।[23] बालचरित के तृतीय अंक में अरिष्टि वृषभ और दामोदर श्रीकृष्ण का वार्तालाप निश्चय ही हास्य से युक्त है–हे वृषभ! तुम्हारे में कुछ शक्ति है तो मैं एक पैर से खड़ा होता हूं। तुम पूर्ण शक्ति से धक्का देकर गिरा दो तो में जान सकूं लेकिन वह इसमें सफल नहीं हो सका।[24] मध्यमव्यायोग के प्रथम अंक में भीम को घटोत्कच से यह ज्ञात होता है कि भीम उसका पिता है। इस पर अपना नाम न बताते हुए भीम मुस्कराते हुये पूँछते कि यह भीम कौन है? और क्या उसकी तुलना कृष्ण, शिव, इन्द्र या यम से की जा सकता है इत्यादि संवाद हास्य के प्रसंग है।[25] इसी प्रकार केशवदास ब्राह्मण तथा घटोत्कच के वार्तालाप में भी हास्य की सृष्टि हुई है। दूतवाक्य के प्रथम अंक में दुर्योधन दरवारी सभासदों को कृष्ण के आतिथ्य में खड़ा न होने पर दवाब डालता है, तथा डरता है तथा उन्हें खड़ा होने के लिए प्रोत्साहन देने की कहता है। लेकिन इसके पश्चात् बड़ी ही सुन्दर एवं हास्यकारी स्थिति तो तब उत्पन्न होती है जब वह स्वयं कहता है कि ''मैं स्वयं को उठने से कैसे रोक सकूँगा।''[26] एक स्थल पर वासुदेव अपने सुदर्शन से दुर्योधन को मार डालने का आदेश देते हैं तो उस समय सुदर्शन का कथन पूर्णतया हास्यप्रद है।[27] प्रतिज्ञा- योगन्धरायण के चतुर्थ अंक में हास्य का प्रसंग बड़ा ही सुन्दर है –

यौगन्धरायणः अहो हास्यमभिधानम्। अग्निं बद्धवा वत्सराजाभिधानं यस्मिन् काले सर्वतो रक्षितव्यम्। तस्मिन् काले सुप्तमासीदमात्यैर्नीते रत्ने भाजने को निरोधः।[28]

इसी तरह यौगन्धरायण कहता है ''जब वह तुम्हारी नाक के नीचे से बचकर निकल गया तो शेष बातों की मुझे चिन्ता क्यों करनी चाहिए?'' जब वृक्ष पूर्णतया अपनी जड़ से स्वयं काट डाला गया तो शाखाओं के काटने में क्यों श्रम किया जाये।[29] अभिषेक नाटक के तृतीय अंक में रावण और हनुमान का पारस्परिक वार्तालाप - ''हे रावण ! यदि तुम इतने वीर थे तो सीता को राम से लड़कर लाते, चोरों की तरह उठाकर ले आये।''[30]

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि महाकवि भास अपने काव्यों में हास्य के वर्णन में पूर्णतः प्रवीण थे। भास ने अपनी सभी कृतियों में हास्य के अच्छे प्रयोग दिखलायें हैं। इनकी कृतियों में हास्य के उद्धृत तथा सुकुमार दोनों ही रूपों

का मिश्रित वर्णन मिलता है। नाटकों में हास्य दर्शकों को आकृष्ट किये रहने एवं उनके मन को प्रसन्न रखने की दृष्टि से नाटकों में हास्य की उपयोगिता सर्वविदित है चाहे वह हास्य विशेषकों के द्वारा उत्पन्न किया जाये अथवा अन्य पात्रों के द्वारा। अतः कहा जा सकता है कि भास हास्य के विषय में वडे ही सिद्धहस्त दिखाई पड़ते हैं।

संदर्भ -

1. शब्दकल्पद्रुम, भाग 24, पृ 533 / हिन्दीविश्वकोश, भाग 24, पृ 730

2. अष्टाध्यायी 3.14.170 3. ना.शा. 6.48 4. वही

5. सा.द. 3.214 6. शारदातनु कृत भाव प्रकाशन, द्वितीय अधिकाश, पृ 34

7. द.रू. 4.43 8. सा.द. 3.13 से आगे 9. सा.द. 3.1

10. का.प्र. 4.129 11. ना.शा. 6.42 12. ना.शा. 6.48 से आगे

13. सा.द. 3.212

14. गोष्ठीषु हास्यः .... । अविमारकनाटकम् 4.21

15. अविमारकनाटकम्, द्वितीयांक प्रवेशक

16. अविमारकनाटकम्, पंचम अंक से आगे

17. चारुदत्त, प्रथमांक आमुख

18. प्रतिज्ञायौगन्धरायण, तृतीयांक प्रारम्भिक अंश

19. वही

20. स्वप्नवासवदत्तम्, चतुर्थांक प्रवेशक के पूर्व

21. वही, 5.6 से आगे

22. प्रतिमा नाटक, तृतीय अंक, प्रारम्भिक अंश

23. वही 4.18 से आगे 24. बालचरित 3.6-12

25. मध्यमव्यायोग 1.42-48 26. दूतवाक्य 1.6 से आगे

27. वही 1.44-46 28. प्रतिज्ञायौगन्धरायण 4.11

29. वही 4.20

30. अभिषेक नाटक 3.15-23

18

संस्कृत नाटकों में स्त्री शिक्षा के विविध आयाम

हेमन्त शर्मा

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता हमेशा सदा ही विविधायामी रही है। इस सभ्यता ने प्राणीमात्र के हित का चिन्तन, उनके अधिकारों का संरक्षण, विश्वमंगल की भावना, जीव-जगत् का दर्शन प्रभृति विविधावधारणाओं का परिपोषण समय-समय पर किया है। भारत भूमि वह धरा है जहाँ के मानव विश्वसंस्कृतियों एवं सभ्यताओं को दिशा देने का पूर्ण सामर्थ्य रखते हैं। मनुस्मृति इसी बात को प्रमाणित करते हुये कहती है -

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।[1]

भारतीय मेधा ने प्राचीन काल से ही विश्वकल्याण के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी महती भूमिका निभाई है। वेद-पुराण एवं अन्यान्य साहित्य में ऐसे हजारों उदाहरण भरे-पड़े हैं। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के उदात्त-परिष्कृत-गौरवास्पद स्वरूप के निर्माण में नृशक्ति के साथ-साथ मातृशक्ति की भी समान सहभागिता रही है। सृष्टि का निर्माण जब उसके बिना सम्भव नहीं है तो समाज का निर्माण कैसे सम्भव है। सांख्य दर्शन इसी सिद्धान्त को परिपुष्ट करते हुये कहता है- **पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।**[2] भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक जगत् में तो शक्ति को आदिशक्ति के नाम से व्यवहृत किया ही जाता है साथ ही साथ व्यावहारिक जगत् में भी स्त्रियों को प्रथम स्थान दिया गया है। इसलिये देवताओं और महापुरुषों के साथ उनकी अर्धांगिनियों के नाम उनसे पहले लिये जाते हैं, जैसे- सीता-राम, राधे-श्याम, गौरी-शंकर, लक्ष्मी-नारायण, सावित्री-सत्यवान्

आदि। नारियों में विविध दैवीय गुण जन्मजात प्राप्त होते हैं। विभिन्न मनीषियों ने इस बात का समर्थन अपने ग्रन्थों में किया है। भारतीय स्त्रियाँ पतिव्रत, दया, करुणा, सेवा- सहानुभूति, स्नेह, वात्सल्य, उदारता, भक्ति- भावना आदि गुणों में नर की अपेक्षा अधिक गुणवती होती हैं। इस सभ्यता में धार्मिक, आध्यात्मिक और ईश्वर प्राप्ति विषयक समस्त कार्यों में नारी का न केवल सर्वत्र समादर किया गया अपितु उसे उसकी महत्ता के अनुकूल प्रतिष्ठा भी प्रदान की गयी। वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है, कि वेदों के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के रूप में नर-नारी दोनों का उल्लेख प्राप्त होता है। उन मन्त्रों का साक्षात्कार करने वाले ऋषि केवल पुरुष ही नहीं हुए हैं, वरन् अनेक नारियाँ भी हुई हैं। उस सच्चिदानन्द परमात्मा ने नारियों के अन्तःकरण में भी उसी प्रकार वेद- ज्ञान प्रकाशित किया, जैसे कि पुरुषों के अतःकरण में। अनेक मन्त्रद्रष्टी ऋषिकाओं की सूची बृहद्देवता के द्वितीय अध्याय में प्राप्त होती है-

घोषा गोधा विश्ववारा, अपालोपनिषन्निषत्।
ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वसादितिः।।
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी।
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शश्वती।।
श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक्श्रद्धा मेधा च दक्षिणा।
रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः।।[3]

इस प्रकार प्राचीन समय में स्त्रियाँ न केवल गृहस्थाश्रम चलाने वाली बल्कि ब्रह्मपरायणा भी थीं। वे दोनों अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में कार्य करती थीं। जो स्त्रियाँ गृहस्थ का संचालन करती थीं, उन्हें 'सद्योवधू' कहते थे और जो वेदाध्ययन, ब्रह्म उपासना आदि के पारमार्थिक कार्यों में प्रवृत्त रहती थीं, उन्हें 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था। ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू के कार्यक्षेत्र तो अलग- अलग थे, पर उनके मौलिक धर्माधिकारों में कोई अन्तर न था। यथा- **द्विविधाः स्त्रियाः। ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम्, अग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनां तूपस्थिते विवाहे कथञ्चिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः।**

जिस प्रकार पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये तप और योग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करते थे, वैसे ही कितनी ही स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी रहकर तप-स्वाध्यायादि

द्वारा आत्मनिर्माण एवं परमार्थ का सम्पादन करती थीं। प्राचीन समय में अनेक सुप्रसिद्ध ब्रह्मचारिणी स्त्रियाँ हुई, जिनकी प्रतिभा और विद्वत्ता की कीर्ति पताका चारों ओर फैली हुई थी। रामायण महाभारतादि ग्रन्थों में ऐसी अनेक कला शास्त्रादि में निपुण स्त्रियों का वर्णन प्राप्त होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में वेदज्ञ वेदवती जिसकी जिह्वा पर चारों वेद वर्तमान थे, का उल्लेख प्राप्त होता है ।

सततं मूर्तिमन्तश्च वेदाश्चत्वार एव च।
सन्ति यस्याश्च जिह्वाग्रे सा च वेदवती स्मृता।।[4]

आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण में वेदमन्त्रों को जानने वाली, धर्मचर्या में निरत स्त्रियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं-

'तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह।'[5]

और भी

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमंगला।।[6]

और भी

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी ।
अन्तःपुरं सहस्त्रीभिः प्रविष्टिशोकमोहिता।।[7]

राजशेखर विरचित काव्यमीमांसा के दशम अध्याय में कहा गया है, कि पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं। आगे वह कहते हैं, राजपुत्रियाँ, मन्त्रिपुत्रियाँ, वेश्यायें, नटों की स्त्रियाँ भी शास्त्रज्ञ एवं कवियित्रियाँ देखी सुनी जाती थीं- **पुरुषवत् योषितोपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति, न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमवेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो, महामात्रदुहितरो, गणिकाः, कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रहतबुद्धयः कवयश्च।**[8] विद्या की अधिष्ठात्री के रूप में माँ सरस्वती की पूजा, दुर्गासप्तशती में शक्ति को ही सभी विद्याओं का अधिष्ठान बताना [9] इत्यादि से यह तो स्पष्ट ही है, कि सामाजिक के साथ-साथ धार्मिक आधार पर भी स्त्रियों के लिये विद्या प्राप्ति की राह में कोई बाधा नहीं थी । तुलसी के रामचरितमानस में माँ अनसूया का सीताजी को पतिव्रत धर्म का उपदेश धर्मशास्त्र विषयक ज्ञान को सूचित करता है -

कह रिषिवधू सरस मृदु बानी। नारि धर्म कछु ब्याज बखानी।।[10]

हर्ष चरितम् के अध्ययन से हर्ष की बहन राज्यश्री एवं उसकी सखियों का नृत्य-गीतादि विभिन्न कलाओं में पारंगत होने का उल्लेख प्राप्त होता है-

अथ राज्यश्रीरपि नृत्तगीतादिषु विदग्धासु सखीषु सकलासु कलासु च प्रतिदिवससमुपचीयमानपरिचया शनैः शनैः अवर्धत ।[11] स्त्री शिक्षा केवल वैदिक संस्कृति तक ही सीमित नहीं रही अपितु जैन-बौद्धादि संस्कृति में भी इसका प्रभाव रहा। इस सम्बन्ध में आचार्य रामजी उपाध्याय लिखते हैं, कि **''बौद्ध संस्कृति में स्त्रियों के अध्ययन के लिये समुचित व्यवस्था प्रदान की गई । अनेक भिक्षुणियों ने संघ की शरण ली और वहाँ रहकर उच्च कोटि की विद्वत्ता प्राप्त करके उस संस्कति से सम्बद्ध साहित्य की अभिवृद्धि की''**।[12] संस्कृत साहित्य एवं नाट्यग्रन्थों में भी स्त्रियों के शिक्षित होने के, विविध कला–विद्यादि में निष्णात होने के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं । भारतीय संस्कृति में स्त्रियों को पूज्या तो माना ही गया इसके साथ-2 उनके स्वाभाविक ज्ञान की भी प्रशंसा की गई। मृच्छकटिकम् में कहा गया है, कि पुरुषों का ज्ञान शास्त्र शिक्षणाधीन होता है किन्तु स्त्रियाँ तो जन्मजात ज्ञानसम्पन्ना एवं विदुषी होती हैं-

स्त्रियो नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः।
पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते।।[13]

अभिज्ञान शाकुन्तलम् में कालिदास स्त्रियों के इसी नैसर्गिक ज्ञान की सराहना करते हुये कहते हैं, कि मानव जाति से भिन्न प्राणियों की स्त्रियों में भी स्वभाविक चातुर्य देखा जाता है फिर मानव जाति की स्त्रियों के विषय में तो कहना ही क्या-

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु सं दृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति।।[14]

वासवदत्ता का धर्मशास्त्रीय ज्ञान स्वप्नवासवदत्तम् के निम्न वाक्य में देख सकते हैं-

चेटि- भर्तृदारिके! यदि स राजा विरूपो भवेत्? वासवदत्ता- नहि नहि। दर्शनीय एव।
पद्मावती- आर्ये ! कथं त्वं जानासि ?
वासवदत्ता- (आत्मगतम्) आर्यपुत्रपक्षपातेन अतिक्रान्तः समुदाचारः। किमिदानीम् करिष्यामि। (प्रकाशम्) भवतु, दृष्टम्। हला ! एवमुज्जयिनीयो जनो मन्त्रयते।[15]

कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में राजा हंसपदिका के संगीतशास्त्र विषयक ज्ञान एवं संगीत विद्या में निष्णात हंसपदिका के गायन को सुनकर भूरि-2 प्रशंसा करता हुआ कहता है-

विदूषकः- (कर्णं दत्त्वा) भो वयस्य, संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि। कलविशुद्धया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते ।जाने तत्र भवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोति ।

और भी **राजा- अहो, रागपरिवाहिनी गीतिः ।**

रत्नावली नाटिका में सेविकाओं के संगीत विद्या में निपुण होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं- **श्रुत्वा ते परिवारवनिता गीतानि भृङ्गागना। लीयन्ते मुकुलान्तरेषु शनकैः सञ्जातलज्जा इव।।**[18]

संस्कृत नाटकों में ऐसे बहुत से प्रमाण प्राप्त होते हैं जहाँ स्त्रियाँ गायन-वादन एवं नृत्य तीनों विद्याओं में निपुण थीं। नागानन्द नाटिका में नायिका के संगीत विद्या में निपुण होने के प्रमाण मिलते हैं- (ततः प्रविशति भूमावुपशिष्टा वीणां वादयन्ती मलयवती चेटी च)

नायिका- (गायति)

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरयुते! मम हि गौरि!।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ।।[19]

अभिज्ञानशाकन्तलम् में नटी के रसभाव मिश्रित गीत को सुनकर सूत्रधार सहित सारी परिषद् मन्त्रमुग्ध हो जाती है-

सूत्रधारः- आर्ये, साधु गीतम्। अहो, रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः।[20]

अपि च **तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।**[21]

वेश्याओं के संगीत विद्या में निपुण होने का प्रमाण वेणीसंहार नाटक में प्राप्त होता है-

भानुमती- तत आर्यपुत्रस्य प्रभातमङ्गलतूर्यरवमिश्रेण वारविलासिनीजनसङ्गीतरवेण प्रतिबोधितोऽस्मि।[22] प्राचीन समय में अध्ययन के लिये स्त्रियाँ सुदूर देश से आवागमन भी करती थीं। भवभूति विरचित उत्तररामचरितम् से ज्ञात होता है, कि वेदान्तशास्त्र को पढ़ने के लिये आत्रेयी विश्वामित्र के आश्रम से दण्डकारण्य में आती है-

वनदेवता-आर्ये आत्रेयि! कुतः पुनरिहागम्यते? किम्प्रयोजनो वा दण्डकारण्योपवन-प्रचारः?

आत्रेयी- अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति । तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि ।।[23] संस्कृत नाट्यों में काव्यकला में प्रवीण, दक्ष एवं सहृदया स्त्रियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। उनका काव्य प्रतिभा सम्बन्धी ज्ञान भी उत्कृष्ट कोटि का था। राजशेखर विरचित कर्पूरमञ्जरी में काव्यकला में प्रवीण विचक्षणा की स्वरचित कविता सुनकर राजा व देवी दोनों भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं-

देवी- (किञ्चित् स्मित्वा)- सखि विचक्षणे ! अस्माकं पुरतः त्वं गाढं कवित्वेन उत्ताना भवसि, तत् पठ साम्प्रतमार्यपुत्रस्य पुरतः स्वयंकृत किमपि काव्यम् ।

विचक्षणा- (पठति)-

ये लङ्कागिरिमेखलायां स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी-
स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् ।
तं इदानीं मलयानिला विरहिणी निःश्वास सम्पर्किणो
जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्यपूर्णा इव ।।

राजा- सत्यं विचक्षणा विचक्षणा चतुरत्वेनोक्तीनाम्, यत् किमन्यत् कवीनामपि कविः ।

देवी- कवि चूड़ामणित्वेन स्थितैषा ।[24] कर्पूरमञ्जरी भी काव्यकला में अत्यन्त दक्ष थी। कुरंगिका कर्पूरमञ्जरी विरचित चन्द्रवर्णन का पाठ करती है तब राजा उसकी रसभावभूषित काव्यकला की गद्गद होकर प्रशंसा करता है- कुरंगिका कर्पूरमञ्जरीं प्रति- हे प्रिय सखि ! त्वया कृतं चन्द्रवर्णनं महाराजस्य पुरतः पठिष्यामि।

मण्डले शशधरस्य गौरे दन्तपञ्जरविलासचौरे ।
भाति लाञ्छनमृगः स्फुरन् केलिकोकिलतुलां धारयन् ।।

राजा- अहो! कर्पूरमञ्जर्या अभिनवार्थदर्शनं, रमणीयः शब्दः, उक्तिविचित्रता, रसनिष्यन्दश्च ।[25]

सौन्दर्यप्रसाधन- सौन्दर्यसज्जा (Beauty parlour) सम्बन्धी विषय के उत्कृष्ट ज्ञान सम्बन्धी उल्लेख भी संस्कृत नाटकों में प्राप्त होते हैं। कर्पूरमञ्जरी में महारानी रनिवास में कर्पूरमञ्जरी को विविधाभूषणों से सुसज्जित करती है। राजा भी महारानी की इस कला की प्रशंसा करता है-

विचक्षणा- देव ! मण्डिता, तिलकिता, भूषिता, तोषिदा च ।
राजा- उज्ज्वलीकृतं तत् काञ्चनमयबालिकारूपम् ।[26]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला की प्रियसखियों के प्रसाधन कला में

दक्ष होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। यात्रा के समय किस प्रकार का शृंगार करना चाहिये वे अच्छी तरह से जानती थीं- **उभे- हला, सज्जा भव। यावत्ते मङ्गलसमालम्भनं विरचयावः।**[27] सैन्य विज्ञान सम्बन्धी शिक्षा का ज्ञान भी स्त्रियों को था। कर्पूरमञ्जरी में महारानी विभ्रमलेखा कर्पूरमञ्जरी के रक्षागृह के बाहर न केवल महिला सैनिकों की नियुक्ति करती है अपितु कुछ को तो सेनाधिकारी के पद पर प्रतिष्ठित करती है-

विदूषक- तासामपि पुनरुपरि मदिरावती, केलिवती, कल्लोलवती, तरङ्गवती, अनङ्गवती पञ्चवतीति नामधेयाः परिचारिका कुमार्याः कनकवेत्रदण्डस्ताः सुभाषितपाठिकाः वतीनामधेयाः सेनायाः अध्यक्षीकृता इति।[28] अभिनय कला में पारंगत स्त्रियों का उल्लेख भी कर्पूरमञ्जरी से प्राप्त होता है । स्त्रियाँ विविध प्रकार के अभिनय करने में कुशल थीं- **हस्ते महामांस-बलिधारिण्यो हुङ्कारफेत्काररवा रौद्राः। निशाचरीणां प्रतिशीर्षकैरन्याः श्मशानाभिनयं कुर्वन्ति।।**[29]

संस्कृत नाटकों से स्त्रियों के विशिष्ट चमत्कारिणी विद्या सम्बन्धी ज्ञान का भी पता चलता है। विक्रमोर्वशीयम् में चित्रलेखा बृहस्पति से प्राप्त अपराजिता नामक शिखाबन्धन विद्या के विषय में उर्वशी से कहती है कि इस विद्या के प्रयोग के द्वारा हमारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता- **चित्रलेखा- सखि! विश्रब्धा भव। ननु भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिखाबन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः।**[30] नाटकों की नारियाँ न केवल नृत्यादि में प्रवीण होती थीं अपितु उनको नृत्य की विविध शैलियों का बोध भी था। मालविका की नृत्यकला उत्कृष्ट थी। वह विविध नृत्य प्रयोगों में निपुण थी -

बकलावलिका- आज्ञप्तास्मि देव्या धरिण्या। अचिरप्रवृत्तोपदेशं छलिकं नाम नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति। नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुम्। इतना ही नहीं मालविका की नाट्यशिक्षा भी उत्कृष्ट थी। उसकी शिक्षाग्राहिका बुद्धि एवं नाट्यकला को देखकर नाट्याचार्य गणदास कहता है कि वह इतनी कुशलता से नाट्यकला का प्रयोग करती है, कि मुझे तो लगता है जैसे वह मुझे सिखा रही हो- **यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै। तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला।।**[32] नाट्यग्रन्थों में परमविदुषी स्त्रियों के बहुत्र उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह स्त्रियाँ इतनी प्रखर मेधा सम्पन्न थीं कि निर्णायक की भूमिका का निर्वहन करती थीं। मालविकाग्निमित्रम् में राजा नाट्याचार्य गणदास एवं हरदत्त के मध्य उत्पन्न हुये अभिनय कला विषयक विवाद की मध्यस्थता के लिये निर्णायक के रूप में

परिव्राजिका कौशिकी से निवेदन करता है- **राजा- भगवति ! अत्रभवतोर्हरदत्त-गणदासयोः परस्परं विज्ञानसंघर्षिणोर्भगवत्या प्राश्निकपदमध्यासितव्यम् ।**[33]

अभिज्ञानशाकुन्तल से ज्ञात होता है, कि तपोवनस्थ कन्यायें भी शिक्षा सम्पन्न थीं। प्रियम्वदा एवं अनसूया के कहने पर विरहव्यथित शकुन्तला राजा को पत्र लिखना चाहती है- **शकुन्तला- हला! चिन्तितं मया गीतवस्तु। न खलु संनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि।**

प्रियम्वदा- एतस्मिञ्शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्ण कुरु।

शकुन्तला- (यथोक्तं रूपयित्वा)[34] दिङ्नागकृत कुन्दमाला नाटक में सीताजी के शास्त्र ज्ञान के साथ-साथ माला बनाने की कला का भी उल्लेख प्राप्त होता है। सीताजी तदनुसार आचरण करती हुई कहती हैं - **सीता- निवर्तितं सवनम्, उपासिता सन्ध्या, हुतो हुतवहः, अवगाहिता भगवती भागीरथी, भगवतीं भागीरथीमुद्दिश्य मम प्रतिपन्ना स्वहस्तग्रथिता कुन्दमाला समर्पिता। इदानीमहमुन्नतगम्भीरशीतलं लताजालं प्रविश्यातिथिजनोपस्थान- योग्यानि कुसुमान्यवचिनोमि।**[35]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में आश्रमस्थ कन्याओं को धर्मशास्त्र का ज्ञान भी था इसलिये जब राजा आश्रम में पहुँचता है तब अनसूया शकुन्तला को आतिथ्य सत्कार के लिये कहती है-

अनसूया- इदानीमतिथिविशेषलाभेन। हला शकुन्तले, गच्छोटजम्। फलमिश्रमर्घ्यमुपहर। इदं पादोदकं भविष्यति।[36]

स्वप्नवासनदत्तम् नाटक में माला गुम्फन कला में निपुण वसन्तसेना का उल्लेख प्राप्त होता है-

चेटी- अस्माकं भट्टिनी भणति महाकुलप्रसूता स्निग्धा निपुणेति इमां तावत् कौतुकमालिकां गुम्फत्वार्या।[37] महाकवि शूद्रक विरचित मृच्छकटिक प्रकरण में भी स्त्रियों के विविधकला विषयक ज्ञान के प्रमाण प्राप्त होते हैं। कोई पुष्प गुम्फन कर रही है, कोई द्रव्ययुक्त अनुलेपन पीस रही है तो कोई भूमि को सजा रही है-

सूत्रधारः- तत् किं पुनरिदं नवमिव संविधानकं वर्तते? **एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो गुम्फति, इयञ्च पञ्चवर्णकुसुमोपहारशोभिता भूमिः।**[38] स्त्रियों की चित्रकला शिक्षा विषयक विविधाख्यान संस्कृत रूपकों में प्राप्त होते हैं। रत्नावली नाटिका, मालती-माधवम् प्रकरण इत्यादि रूपकों में उनकी चित्रकलाविषयक दक्षता का ज्ञान होता है। मालती-माधवम् में कलहंस मालती के द्वारा बनाये चित्र को माधव के पास ले जाता है-

कलहंसः- (उपसृत्य) इदं च । (इति चित्रफलकं दर्शयति) (उभौ पश्यतः)

मकरन्दः- कलहंसक केनैतन्माधवस्य प्रतिच्छन्दकमभिलिखितम् ।

कलहंसः- येनैवास्य हृदयमपहृतम् ।

मकरन्दः- अपि मालत्या ।

कलहंसः- अथ किम् ।

रत्नावली नाटिका में चित्रकला में निष्णात सागरिका का उल्लेख प्राप्त होता है -

सुसंगता- सखि ! क एष त्वयात्र चित्रफलक आलिखितः ।

सागरिका- सखि, प्रवृत्तमदनमहोत्सवे भगवाननङ्गः ।

भारतीय वसुधा आदिकाल से ही ज्ञान-विज्ञान-कला-साहित्य-शास्त्रादि की भूमि रही है। प्राचीन ग्रन्थों का जब हम अध्ययन करते हैं तब हम पाते हैं, कि गुरुकुलों के साथ-साथ निजगृह भी कला-शिक्षादि के उन्नत केन्द्र थे। विविध कलादि की शिक्षा विद्यालयेतर भी प्रदान की जाती थी। इसलिये आज भी भारत के ग्रामीण एवं शहरी अंचलों में ऐसी अनेक स्त्रियाँ हैं, जो कभी विद्यालय नहीं गई फिर भी विभिन्न कलादि में माहिर हैं। पुरुषवत् स्त्रियाँ भी उच्चशिक्षित हुआ करती थीं। कुछ मामलों में पुरुषों की शिक्षा से स्त्रियों की शिक्षा भिन्न थी तो कुछ मामलों में समरूप शिक्षा प्रदान की जाती थी। स्त्री हो या पुरुष दोनों की योग्यता एवं पात्रता के आधार पर कला-शिक्षादि का ज्ञान दिया जाता था। प्राचीन शिक्षा अपने स्वरूप में व्यापकता लिये हुये थी। शिक्षा को केवल पुस्तकीय ज्ञान या अक्षरबोध तक सीमित नहीं रखा गया था। शिक्षा पद्धित ऐसी थी, कि प्रत्येक व्यक्ति (स्त्री + पुरुष) किसी न किसी कलादि की शिक्षा में निष्णात होता था। गीता में वर्णित **स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः** के द्वारा स्त्रियाँ स्वकर्म को करते हुये संसिद्धि (ब्रह्मवादिता) को प्राप्त करती थीं । इस प्रकार स्पष्ट होता है, कि प्राचीन भारत में विविध कला-शास्त्र विशारद महिलाओं की कमी नहीं थी।

संदर्भ -

1. मनु- पृष्ठ 41, श्लोक 2.20

2. सांख्यकारिका- कारिका 21, पृष्ठ 47

3. शौनकीय बृहद्देवता- 2.82-83-84

4. ब्रह्मवैवर्त पुराण- प्रकृति खण्ड 2/14/64

5. बाल्मीकि रामायण- अयो. 14/61

6. बाल्मीकि रामायण अयो. 2. । 15

7. बाल्मीकि रामायण- किष्किन्धा. 16/12,

8. राजशेखर- पृष्ठ 116

9. दुर्गासप्तशती- पृष्ठ 160, श्लोक 11.6
10. रामचरितमानस- पृष्ठ 572, अरण्यकाण्ड दोहा 5 के पूर्व की चौपाई
11. हर्षचरितम्- पृष्ठ-285
12. प्राचीनभारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका- पृष्ठ 143
13. मृच्छकटिकम- 158, श्लोक 4.19
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- पृष्ठ- 272, श्लोक 5.22
15. स्वप्नवासवदत्तम्- पृष्ठ 57 पद्मावती-वासवदत्ता संवाद
16. अभिज्ञानशाकुन्तलम- पृष्ठ- 227 श्लोक 5.1 पूर्वं विदू. संवाद
17. अभिज्ञानशाकुन्तलम- पृष्ठ 229, 5.1 उप.
18. रत्नावली नाटिका- पृष्ठ 40, श्लोक- 1.25
19. नागानन्द नाटकम- पृष्ठ 33, श्लोक 1.14
20. अभिज्ञानशाकन्तलम्- पृष्ठ 11
21. अभिज्ञानशाकन्तलम्- 1.5, पृष्ठ 11
22. वेणीसंहारम्- पृष्ठ 73, 2.12 उप.
23. उत्तररामचरितम्- पृष्ठ-84
24. कर्पूरमञ्जरी- पृष्ठ 31-32-33
25. कर्पूरमञ्जरी- पृष्ठ 181-182
26. कर्पूपमञ्जरी- पृष्ठ 87
27. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- पृष्ठ 186, 4.5 पूर्वं
28. कर्पूरमञ्जरी- पृष्ठ 202
29. कर्पूरमञ्जरी- पृष्ठ 208, श्लोक- 4.15
30 कालिदास ग्रन्थावली (विक्रमोर्वशीयम्)- पृष्ठ 494
31. कालिदास ग्रन्थावली (मालविकाग्निमित्रम्)- पृष्ठ 570
32. कालिदास ग्रन्थावली (मालविकाग्निमित्रम्)- पृष्ठ 573, श्लोक 1.5
33. कालिदास ग्रन्थावली (मालविकाग्निमित्रम्)- पृष्ठ 580
34. अभिज्ञानशाकन्तलम्- पृष्ठ 140, श्लोक 3.14 उप.
35. कुन्दमाला- पृष्ठ 72, श्लोक 3.11 उप.
36. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- पृष्ठ 50, 1.21 उप.
37. स्वप्नवासवदत्तम्- पृष्ठ 64
38. मृच्छकटिकम्- पृष्ठ 12-13
39. मालतीमाधवम्- पृष्ठ 37, 1.33 उप.
40. रत्नावली नाटिका- पृष्ठ 46

19

प्रसन्नराघवम् में अलङ्कार-योजना

सन्दीप कुमार यादव

संस्कृत नाट्य परंपरा में जयदेव का नाम भी परिगणित है उनके नाटक का नाम प्रसन्नराघव है। जो 7 अंकों में विभाजित हैं, प्रसन्नराघव में राम कथा का वर्णन बड़े ही सुंदर ढंग से महाकवि ने चित्रित किया है। इस नाटक में इतनी मंजुल पदावली है कि पढ़ते ही पूरा चित्र आंखों के सामने खिंच जाता है, प्रसाद गुण से युक्त कविता के कारण इसका प्रसन्नराघव नाम यथार्थ ही प्रतीत होता है। इनके काव्य सौंदर्य के आधार पर ही इन्हें 'पीयूषवर्ष' उपाधि दी गई है। जयदेव का विशेष प्रभाव तुलसीदास के ऊपर पड़ा है, प्रसन्न राघव की कमनीय सूक्तियों का आशय लेकर तुलसीदास ने अपने काव्य में इतनी रोचक कविता की है कि उनकी वह कविताएं प्रसन्नराघव का अक्षरशः अनुवाद प्रतीत होती है। रामचरितमानस के बालकांड में वाटिका भ्रमण की अपूर्व रसमयी कल्पना के लिए तुलसीदास प्रसन्नराघव नाटक के विशेष ऋणी हैं।

अलं पूर्वक कृ धातु से घञ्प्रत्यय करने पर अलङ्करोति इति अलङ्कारः अलङ्कार शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार शरीर को विभूषित करने वाले अर्थ या तत्त्व का नाम अलंकार है जिस प्रकार कटक कुंडल आदि आभूषण शरीर को विभूषित करते हैं इसलिए अलंकार कहलाते हैं। उसी प्रकार काव्य में अनुप्रास उपमा आदि काव्य के शरीर भूत शब्द और अर्थ को अलंकृत करते हैं इसलिए वे अलंकार कहलाते हैं। अलंकार की महत्ता को बताते हुए आचार्य भामह कहते हैं कि अलंकार काव्य का सबसे प्रमुख सौंदर्याधायक तत्त्व है। जिस प्रकार कामिनी का मुख सुंदर होते हुए भी आभूषण के बिना शोभायमान नहीं होता उसी

प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की शोभा नहीं होती- न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।[1] आचार्य भामह ने शब्द और अर्थ की वक्रता से युक्त उक्ति को अलंकार बताया है। वक्रता के अभाव में अलंकार का अभाव होता है अर्थात् वक्रोक्ति के बिना अलंकार नहीं होता तथा यह वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति अभिन्न हैं- **वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।**[2] आचार्य दण्डी ने काव्य के सभी शोभा धारक धर्मों को अलंकार माना है, यह धर्म अनेक प्रकार के हैं जिनकी गणना नहीं की जा सकती। काव्य में शोभा के संपादक होने से रस को भी रसवद् आदि अलंकारों के अंतर्गत सम्मिलित कर लिया गया है। इसके अतिरिक्त काव्यगत संध्यंग आदि को भी अलंकार के रूप में स्वीकार किया है- काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।[3] अग्निपुराणकार ने भी आचार्य दंडी के ही अलंकार विलक्षण का अनुसरण किया है और वे कहते हैं कि अलंकारों से रहित कविता को विधवा के समान माना जाता है- अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।[4] आचार्य वामन ने गुणों को ही सर्वस्व में स्वीकार किया है किंतु काव्य की उपादेयता सौन्दर्यरूप में अलंकार की सत्ता को माना है। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि काव्य शोभा के उत्पादक धर्म गुण कहलाते हैं और उस काव्य शोभा के बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहा जाता है- **काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।**[5] अलंकार संप्रदाय के आचार्यों ने अलंकारों को काव्य का अपरिहार्य तत्त्व माना है वे तो अलंकारों के विषय में यहां तक कह देते हैं कि अलंकार रहित काव्य की कल्पना उष्णता रहित अग्नि की कल्पना के समान उपहास योग्य है-

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती।।[6]

आचार्य मम्मट अलंकार का लक्षण करते हुए कहते हैं -

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।[7]

अर्थात् जो काव्य में विद्यमान अंगी रस को शब्द तथा अर्थ रूप अंगों के द्वारा कभी-कभी उत्कर्षता प्रदान करते हैं वह अनुप्रास और उपमा आदि हार आदि दैहिक अलंकारों के समान काव्य के अलंकार कहलाते हैं। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ अलंकार का लक्षण करते हुए कहते हैं -

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्।।[8]

इस प्रकार प्रायः सभी आचार्यों ने एक स्वर में यह स्वीकार किया है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं अलंकार शरीर के शोभा दायक होते हैं इसलिए काव्य में शब्द और अर्थ के उत्कर्ष आधार एक तत्त्व का ही नाम अलंकार है अर्थात् अलंकार का आधार शब्द और अर्थ है इसी आधार पर शब्दालंकार, अर्थालंकार और उन दोनों के मिश्रण से बने हुए उभयालंकार इन तीन प्रकार के अलंकारों की संकल्पना की गई है। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के भेद तत्त्व हैं- शब्दपरिवर्तन-सहत्व एवं शब्दपरिवर्तनासहत्व। अर्थात जहां शब्द का परिवर्तन करके उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने पर अलंकार नहीं रहता वहां यह समझना चाहिए कि उस अलंकार की स्थिति विशेष रूप से उस शब्द के कारण ही थी। इसलिए उसे शब्दालंकार कहा जाता है, जहां शब्द का परिवर्तन करके दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी उस अलंकार की सत्ता बनी रहती है वहां अलंकार शब्द के आश्रित नहीं अपितु अर्थ के आश्रित होता है, इसलिए उसको अर्थालंकार कहा जाता है। इस प्रकार जो अलंकार शब्द परिवृत्त को सहन नहीं करता वह शब्दालंकार और जो शब्द परिवर्ती को सहन करता है वह अर्थालंकार होता है यही शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का भेद है। महाकवि जयदेव ने अपने नाटक प्रसन्नराघव में अलंकारों का बहुत ही सुंदर निवेश किया है जिससे काव्य का सौंदर्य और अधिक बढ़ जाता है जहां हम इस नाटक में प्रयुक्त शब्दालंकार एवं अर्थालंकारों का किंचित् दिग्दर्शन करेंगे-

शब्दालङ्कार

अनुप्रास अलङ्कार - वर्णों की समानता अर्थात् आवृत्ति का नाम अनुप्रास अलंकार है- **वर्णसाम्यमनुप्रासः**।[9] प्रसन्नराघव नाटक के प्राय सभी श्लोकों में अनुप्रास अलंकार दर्शनीय है। चतुर्थ अंक का यह श्लोक अनुप्रास अलंकार के रुप में द्रष्टव्य है-

उद्भिन्नश्चापचक्रादमरपरिहृतव्योमरन्ध्रावगाही
बाणोऽयं राघवस्य त्रिदशपुरगतिच्छेदकश्रद्भार्गवस्य।
हंसीभूतः सुरस्त्रीकरकमलगलत्पुष्पसौरभ्यलुभ्यद्
भृङ्गीसङ्गीतभङ्गीपरिचलितयशाः स्वर्गपर्यङ्कमेति।।[10]

प्रस्तुत श्लोक के चतुर्थ पाद में ङ्ग वर्ण की कई बार आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है। पंचम अंक में यमुना का सीता के प्रति उक्ति में भी अनुप्रास की छटा दिखती है-

अधिचरणममू चमूरुनेत्रे मृदुरणितौ मणिनूपुरौ विधेहि।
अहरपि विरहं न यन्महिम्ना हरिणशःसह वल्लभैर्लभन्ते।।[11]

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम चरण में म वर्ण और च वर्ण की आवृत्ति होने के कारण अनुप्रास अलंकार है।

यमक अलङ्कार - अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुणे आवृत्ति यमक नामक शब्दालंकार कहलाता है- **अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पूनमः श्रुतिः। यमकम्**[12] प्रसन्न राघव नाटक के पंचम अंक में यमक अलंकार का सुंदर निदर्शन होता है-

गमय वत्स निमील्य विलोचने कतिचिदत्र निमेषसमाः समाः।
अपि च मामिव शीलसुशीतलं शुभरतं भरतं परिशीलय।।[13]

यहां निमेषसमाः समाः तथा शुभरतं भरतम् पदों की आवृत्ति होने के कारण यमक अलंकार है। इसी प्रकार तृतीय अंक में भी यमक अलंकार दृष्टिगत होता है-

गाधिनन्दन न नन्दनजन्मा ता–शः से हरिचन्दनशाखी।
या–शो मम भवत्पदपद्मद्वन्द्ववन्दनविधिः सुखहेतुः।।[14]

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम चरण में नन्दन पद की आवृत्ति होने से यमक अलंकार है।

श्लेष अलंकार - आचार्य मम्मट इसका लक्षण करते हुए कहते हैं कि अर्थ का भेद होने से भिन्न भिन्न शब्द समानाकार होने से एक साथ उच्चारण के कारण जब परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं, तब वह श्लेष अलंकार होता है -

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।।[15]

प्रसन्नराघव नाटक के सप्तम अंक में श्लेष अलंकार द्रष्टव्य है -

भग्नालकं स्मितपराजितचन्द्रलेखं ग्लीलया कुवलयश्रियमादधानम्।
एतन्मुखं दिविषदामिव दुर्निरीक्ष्य तन्वङ्गि मामिव मुधा क्रियाःकरोषि।।[16]

प्रस्तुत श्लोक में भग्नालकं, चन्द्रलेखम् कुवलयश्रियम् आदि पद श्लिष्ट पद होने के कारण श्लेष अलंकार है।

अर्थालङ्कार

उपमा अलंकार - उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा अलंकार कहलाता है - साधर्म्यमुपमा भेदे।[17] प्रसन्न राघव नाटक में उपमा अलंकार अनेक स्थानों पर दिखलाई पड़ता है। प्रथम अंक में रावण की उक्ति है कि उद्धत क्रौर्य से प्रकाशमान बाहुसमूह से अनायास ही चंचल होने वाले महादेव के कैलासपर्वत से सुन्दर यश वाले मुझे इस बालमृणाल के सदृश धनुष को उठाने में व्यर्थ क्लेश करने से कैसा यश होगा?

उद्दण्डचण्डिमलसद्भुजदण्डखण्ड- हेलाचलाचलहराचलचारुकीर्तेः।
की–ग्यशस्तुलितबालमृणालकाण्ड कोदण्डकर्षणकदर्थनयाऽनया मे।।[18]

प्रस्तुत श्लोक में धनुष को बालमृणाल के सदृश बताया गया है इसलिए यहां उपमा अलंकार है।

उत्प्रेक्षा अलंकार - प्रकृत अर्थात् वर्ण्य उपमेय की सम अर्थात् उपमान के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा अलंकार कहलाती है - **सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।**[19] प्रसन्नराघव नाटक के द्वितीय अंक में राम का कथन है कि ये भगवान् सूर्य सब लोकों के कमलों को विकसित कर विष्णु भगवान् के शरीर के भीतर मुद्रित नाभिकमल को विकसित करने में मानो उत्कण्ठित होकर इस समय समुद्र के भीतर प्रवेश कर रहे हैं -

त्वा प्रबुद्धकमलामखिलां त्रिलोकी-मम्भोनिधेर्विशति गर्भमसाविदानीम्।
अन्तःप्रसुप्तहरिनाभिसरोजबोध-कौतूहलीव भगवानरविन्दबन्धुः।।[20]

यहां पर मानो उत्कण्ठा =कौतूहलीव में उत्प्रेक्षा है।

रूपक अलंकार - उपमान और उपमेय का जो अभेद वर्णन है, वह रूपक अलंकार है- तद्रूपकमभेदे यः उपमानोपमेययोः।[21] नाटक के द्वितीय अंक में सीता को देखकर राम कहते हैं कि नहीं युवा अवस्था का सर्वस्व भोग का भवन नेत्रों का भाग्य यौवन के मद का विलास का सौभाग्य संसार का सार जन्म का सत् परिणाम कामदेव का अभिप्राय विशिष्ट स्थान राम का हृदय राग की पराकाष्ठा और शृंगार का रहस्य कमल लोचन सीता का वह अनिर्वाचनीय दर्शन है -

सर्वस्व नवयौवनस्य भवनं भोगस्य भाग्यं दृशां
सौभाग्यं मदविभ्रमस्य जगतः सारं फलं जन्मनः।
साकूतं कुसुमायुधस्य हृदयं रामस्य तत्त्वं रतेः
शृंगारस्य रहस्यमुत्पल–शस्ततू किञ्चिदालोकितम्।।[22]

यहां सीता में नवयौवन आदि का आरोप होने कारण रूपक अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास अलंकार - जहां सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न अर्थात सामान्य का विशेष की द्वारा अथवा विशेष का सामान्य के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वहां अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। नाटक के छठे अंक में सीता गाती है कि रघुपति ने अपने हाथ में गुंजन करने वाले भ्रमरों से युक्त कमल लता के नए कुंमलको लेकर जिनमें भूषण पहनाया था ऐसे मेरे ये ही कान रावण के ऐसे वचनों को सुनकर क्यों विदीर्ण नहीं हुए अथवा भीतर कुटिल होने वाले इनका ऐसा होना ठीक ही है-

निजे पाणौ कृत्वा कमललतिकाबालमुकुलं
ययोश्चक्रे गुञ्जन्मधुपमवतंसं रघुपतिः।
अपीमौ कर्णौ मे वचनमिदमाकर्ण्य न कथं
विशीर्णौ युक्तं वा चरितमिदमन्तः कुटिलयोः।।[23]

काव्यलिङ्ग अलंकार - हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप में कथन करना काव्यलिंग अलंकार होता है- काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता।[24] नाटक एडिटिंग में सीता अपने प्रिय राम के प्रति कहती हैं कि हे नेत्रों! प्रिय जन राम के मुख कमल के मकरंद का पान कर लो। हे चंचलो! फिर तुम दोनों कहां? और यह कहां? इस बात का विचार कर लो-

अयि पिबतं लोचने प्रियजनवदनारविन्दमकरन्दम्।
अयि तरले! विचारयतं पुनः क्व युवां क्वायं च।।[25]

यहां उत्तरार्द्ध का पूर्वार्द्धगत वाक्यार्थ के प्रति हेतु होने के कारण काव्यलिंग अलंकार है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाकवि जयदेव ने अपने नाटक प्रसन्न राघव में शब्द अलंकार और अर्थ अलंकार का बहुत ही सुंदर सन्निवेश किया है। महाकवि की यह विशेषता है कि उन्होंने अपने भावों के अनुकूल अलंकार को स्थान दिया है।

सन्दर्भ -

01. काव्यालंकार-2/13

02. वही-1/36

03. काव्यादर्श-2/1

04. अग्नि पुराण -343/12

05. काव्यालंकारसूत्र -3/1/1/-2

06. चन्द्रालोक -1/8

07. काव्यप्रकाश -8/67

08. साहित्यदर्पण-10/1

09. काव्य/काश -9/79

10. प्रसन्नराघव -4/43

11. वही-5/42

12. काव्यप्रकाश -9/83

13. प्रसन्नराघव -5/7

14. वही -3/9

15. काव्यप्रकाश -9/84

16. प्रसन्नराघव -7/15

17. काव्यप्रकाश-10/87

18. प्रसन्नराघव -1/48

19. काव्यप्रकाश -10/92

20. प्रसन्नराघव -2/32

21. काव्यप्रकाश -10/93

22. प्रसन्नराघव -2/26

23. प्रसन्नराघव -6/26

24. काव्यप्रकाश -10/114

25. प्रसन्नराघव -2/25

20

कालिदास के नाटकों में राजधर्म

सञ्जय कुमार

महाकवि कालिदास संस्कृत नाट्य सरिता के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। उनके नाटक भारतीय संस्कृति, सभ्यता का केवल उद्गार ही नहीं करते बल्कि एक स्वस्थ समाज के निर्माण में अपनी भूमिका को भी स्पष्ट करते हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण के साथ समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजशास्त्र का जो यहाँ चिन्तन मिलता है वह निश्चित ही भारतीय समाज का पथ प्रदर्शन करता है। यदि हम कालिदास के नाटकों में प्रतिपादित राजशास्त्र या राजधर्म की बात करें तो वह अपने विशाल स्वरूप के साथ उभरता है। जिससे एक दिशा मिलती है और समाज में राजधर्म की एक समझ विकसित होती है। कालिदास के नाटकों पर मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, नारदस्मृति, व्यासस्मृति तथा विदुरनीति एवं शुक्रनीति आदि ग्रन्थों का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। जिससे तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के साथ प्रजापालन के राजकीय कर्त्तव्यों का भी बोध होता है। हमारा समाज प्राचीन समय से ही चार वर्णों में विभाजित था और उसी के अनुसार उनके कर्त्तव्य भी निश्चित किये गये थे। इन कर्त्तव्यों में प्रायः परम्परा ही रही है कि जो जिस वर्ग में जन्म लिया उसी के अन्तर्गत अपना कार्य करने लगा। परम्परा को तोड़ना या उससे बाहर निकलना एक सामाजिक परिवेश को तोड़ना या उससे बाहर निकलना था जिसका साहस साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नहीं था। लेकिन सामाजिक अनुशासन, सबके अधिकार का संरक्षण, लोक कल्याण की योजना, बाह्य या आन्तरिक रूप से सबकी सुरक्षा की गारण्टी राजधर्म देता था। राजधर्म सामाजिक कल्याण के साथ व्यक्तिगत उत्थान पर बल देता है। कालिदास इसके पक्षधर हैं। रघुवंश आदि

महाकाव्य में इसकी बेजोड़ अभिव्यक्ति भी करते हैं। परन्तु वही कालिदास जब शकुन्तला दुष्यन्त के राजभवन में पहुँचती है तब उसके साथ हुए अन्याय का प्रतिकार नहीं करते हैं। हम इसे तत्कालीन दुर्व्यवस्था का परिणाम कह सकते हैं या परम्परा से बाहर निकलने में साहस का अभाव मान सकते हैं। यह प्रश्न तो है, राजधर्म की मर्यादा को शाप के प्रभाव के ओट में नहीं बचाया जा सकता है। ऋषि का सन्देश कहते ही दुष्यन्त कहता है- **किमिदमुपन्यस्तम्**[1] अर्थात् यह क्या उपस्थित किया जा रहा है। राजा का यह शब्द अग्नि के समान था फिर भी शार्ंगरव लोक व्यवहार की बात करता है। उसे पति धर्म के पालन का उपदेश देता है लेकिन राजा राजसिंहासन पर बैठकर बोलता है- **किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा।**[2] अर्थात् क्या मैंने इस श्रीमती से पहले कभी विवाह किया है यानि नहीं। शकुन्तला से अपने गान्धर्व विवाह को दुष्यन्त झूठी कल्पना भी कहता है। वह शकुन्तला को जब देखता है तो उसकी विवशता सामने आती है। वह इस प्रकार विचार करता है-

इदमुपनमेवं रुपमक्लिष्टकान्ति प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्द कुन्दस्तुषारं न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोभि हातुम्।[3]

अर्थात् इस प्रकार स्वयं आया हुआ सुकोमल कान्ति से सम्पन्न सौन्दर्य मेरे द्वारा पहले विवाह करके स्वीकार किया गया है अथवा नहीं, इसका निश्चय न कर पाते हुए मैं प्रातःकाल और जैसे भीतर तुहिनकणों से व्याप्त कुन्द फूल को न तो चूंस सकता है और न छोड़ सकता है, उसी प्रकार न उपभोग करने और न परित्याग करने में ही समर्थ हो पा रहा है। राजा के संकल्प-विकल्प पर प्रतिहारी सोचता भी है कि स्वामी की धार्मिकता आश्चर्यजनक है। अनायास प्राप्त हुए ऐसे रूप को देखकर भला कौन दूसरा विचार करेगा अर्थात् कोई नहीं। उस राजसभा में शार्ंगरव, शारद्वत, गौतमी, शकुन्तला और ऋषि कण्व की वाणी को कोई नहीं सुनता है। क्या उस समय के ऋषि असत्य भाषण करते थे। यह सही है या गलत दुविधा में पड़ा राजा गान्धर्व विवाह को अस्वीकार कर देता है। किसी से कुछ पूछता नहीं है, विचार नहीं करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे राजा राम ने सीता का परित्याग किया था। यहाँ दुष्यन्त स्त्रियों के प्रति अमर्यादित कटुवचन भी बोलता है। यदि शकुन्तला का दुर्भाग्यवश अभिज्ञान नहीं मिला तो भी राजा को अन्य विषयों पर विचार करना था। प्रमाण केवल शकुन्तला ही क्यों दे। राजा को भी अपने आखेट पर न जाने का

प्रमाण देना था। विदूषक से तो पूछा जा सकता था। लेकिन राजा क्यों पूछे। वह तो राजा है। वह तो पुरुष है। यद्यपि पुरोहित अपने घर शकुन्तला को पुत्र प्रसव तक रहने की अनुमति भी देता है लेकिन जिसके पूत चरित्र को दुःश्चरित्र का लांछन लगाया गया हो वह वहाँ कैसे रह सकता है। कालिदास के शाप की योजना से शकुन्तला का जीवन कठिन हो गया है। जिससे कालिदास के राजधर्म पर प्रश्न उठता है। हां यह बात सही है कि कवि काव्यसृष्टि के लिए स्वतंत्र है। यह अपने काव्य में पात्र का परिष्कार करता है। कहीं कुछ जोड़ता है तो कहीं घटाता है। काव्य सदैव संवेदना की खोज करता है। जिसके लिए कालिदास बेजोड़ हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रारम्भ में राजधर्म के रूप में बड़ी सुन्दर बात कालिदास उपस्थित करते है। जहाँ राजा और तपस्वी का मिलन होता है। राजा हिरण का पीछा करता हुआ आश्रम के समीप पहुँचता है। तपस्वी उसे रोकता है कि यह आश्रम हरिण का है इसे न मारिये क्योंकि आपका शस्त्र पीड़ितों की रक्षा के लिए है निरपराधों पर प्रहार के लिए नहीं।[4] राजा तपस्वी की बात मान लेता है और धनुष पर से बाण उतार लेता है। वह तपस्वी के आग्रह पर कुलपति कण्व के आश्रम में जाता है। वहाँ वह अपने राजसी वैभव का परित्याग कर पहुँचता है। यहाँ तपोवन के निवासियों को कोई विघ्न न होवे इसलिए रथ से उतर जाता है आश्रम में प्रवेश करते ही उसे शकुन्तला दिखाई पड़ती है लेकिन वह राजा के रूप में नहीं बल्कि राजपुरुष के रूप में उपस्थित होता है। वह स्वयं को धर्माधिकारी बताता है। जो आश्रम के क्रियाकलाप की निर्विघ्नता को जानने आया है। दुष्यन्त स्वयं को राजा के रूप में उपस्थित नहीं करता है क्योंकि राजभय से जो वह प्राप्त करना चाहता है वह सम्भव नहीं हो सकेगा। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा को ऋषि के समान बताते हुए इस प्रकार कहा गया है-

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।
अस्यापिद्यां स्पृशति वशिनश्चारण द्वन्द्वगीतः पुण्यःशब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः।।[5]

अर्थात् इसके द्वारा भी सबके आश्रम योग्य गृहस्थ आश्रम में निवास स्वीकार किया गया है। प्रजा की रक्षा करने से अथवा रक्षा रूपी योग से यह भी प्रतिदिन तपस्या का संचय करता है। इन्द्रियों को वश में रखने वाले इसका भी केवल राजपूर्वक पावन ऋषि यह शब्द चारण युगल के द्वारा गाया जाता हुआ बार-बार स्वर्ग को छूता रहता है। यहाँ पर राजा के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रजा रक्षण का कार्य विश्राम रहित होता है -

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते श्रान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्यः रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः।।[6]

अर्थात् अपनी सन्तान की तरह प्रजाओं का पालन करके थके हुए दिन में झुण्ड को संचालित कर घाम से वे सन्तप्त गजराज जैसे शीतल स्थान पर सेवन करता है उसी तरह राजा एकान्त का सेवन कर रहा है। यहाँ पर राजा के दण्ड व्यवस्था के विषय में कहा गया है कि महान् पद की प्राप्ति केवल उत्सुकता को समाप्त करती है किन्तु प्राप्त की रक्षा का कार्य कष्ट ही देता है। अपने हाथ में ली गयी है दण्ड व्यवस्था जिसकी ऐसी राज्य छाते की तरह, थकान को दूर करने के लिए उतना नहीं होता जितना थकान के लिए होता है।[7] पुनः कालिदास कहते हैं-

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्।।[8]

अर्थात् अपने सुख की अभिलाषा न करते हुए प्रजा के लिए ही प्रतिदिन कष्ट उठाते हो अथवा तुम्हारा कार्य ऐसा ही है। क्योंकि वृक्ष अपने सिर पर तीक्ष्ण गर्मी को सहता है किन्तु छाया से आश्रित प्राणियों की गर्मी को दूर करता है। कालिदास राजा के राजदण्ड के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं-

नियमसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम त्वयितु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्।।[9]

अर्थात् आप राजदण्ड हाथ में लेकर कुमार्ग गामियों को नियन्त्रित करते हो, प्रजा के विवादों को शान्त करते हो। लोगों की रक्षा के लिए समर्थ होते हो। विपुलवैभव के रहने पर लोग जाति-विरादर भले ही हो जायें परन्तु प्रजा का बन्धु-कार्य तो तुम्हारे में ही समाप्त होता है यानि पूरा होता है। यहाँ पर राजा को सूर्य के समान बताते हुए कहा गया है कि हे राजन्! सज्जनों के रक्षक आपके विद्यमान रहने पर धार्मिक क्रियाओं में विघ्न कहा से हो सकता है? सूर्य के तपते रहने पर अन्धकार कैसे आविर्भूत हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है।[10] इसी प्रकार प्रजापालन के समय में विक्रमोर्वशोयम् में भी पुरुरवा के विषय में कहा गया है-

आ लोकान्तात्प्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां
तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो नः।
तिष्ठत्येका क्षणमधिपतिज्योर्तिषां व्योममध्ये
षष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्नि।।[11]

अर्थात् हम समझते हैं आप और सूर्य दोनों अपना नित्य का काम ठीक एक जैसा ही करते रहते हैं क्योंकि सूर्य भी संसार का अंधेरा मिटाते हैं और आप अपनी प्रजा का कष्ट दूर करते हैं। नक्षत्रों के अकेले राजा सूर्य भी जिस प्रकार अपने काम से छुट्टी पाकर आकाश में विश्राम लेते हैं वैसे ही आप भी अपने राज-काज से छुट्टी पाकर तीसरे पहर विश्राम करते हैं। मालविकाग्निमित्र में भी प्रजा की मंगल कामना की गयी है- **आशास्यमीतियिगमप्रभृति प्रजानां संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नानिमित्रे।।**[12] अर्थात् जब तक अग्निमित्र राज्य करें तब तक उनकी प्रजा में किसी प्रकार के उपद्रव आदि न हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास ने सब जगह राजा के मूल कर्त्तव्यों में प्रजा पालन का ही निर्देश किया है। राजा का सर्वोच्च कार्य प्रजा पालन है। प्रजा का सुख और दुःख राजा का सुख दुःख माना जाता है। कालिदास प्रजा को विश्वरूप में स्वीकार करते हैं। राजा के लिए प्रजा ही सब कुछ है। वे राजतन्त्र में भी लोकतन्त्र की तरह शासन व्यवस्था के पक्षधर दिखलाई पड़ते हैं।

इसी प्रकार कालिदास मन्त्रि, राज्य दण्ड व्यवस्था कोश सेना आदि विषयों पर भी अपने नाटकों में विचार करते हैं। उनके मत में यही राजधर्म के अंग हैं। इन्हीं के सहायता से राज्य संचालन या प्रजापालन का कार्य ठीक प्रकार से सम्भव है। कालिदास के नाटकों में कर व्यवस्था का भी वर्णन मिलता है। कर के द्वारा ही राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है। अभिज्ञानशाकुन्तल में इस प्रकार कहा गया है-

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद् धनम्।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।।[13]

अर्थात् राजाओं को चारों वर्णों से जो धन प्राप्त होता है वह नश्वर है किन्तु तपस्वी लोग हमें निश्चय ही अनश्वर तपस्या का षष्ठांश देते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि चारों वर्ण राजा को कर देते हैं। जिससे राज्य व्यवस्था संचालित होती है। एक जगह और कर के रूप में छठांश ग्रहण करने की बात कही गयी है-

भानुः सकृद्युक्तरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः।।[14]

अर्थात् सूर्य एक बार ही अपने रथ में घोड़ों को सर्वदा के लिए जोतते हैं। वायु रात दिन बहता है। शेषनाग सर्वदा ही भूमि के भार उठाते रहते हैं प्रजा के रूप

में छठा भाग लेने वाले राजा का भी यही कर्त्तव्य है कि वह अहर्निश प्रजा पालन में संलग्न रहे। राजा को अभिज्ञानशाकुन्तल में और विक्रमोर्वशीयम् में राजर्षि कहा गया है।[15] वस्तुतः राजर्षि उसे कहा जाता है जो राजवंश में उत्पन्न होने पर भी जिसका जीवन ऋषि के तुल्य हो गया हो। इस प्रकार दुष्यन्त और पुरुरवा को यहाँ राजर्षि कहा गया है। जनक को भी राजर्षि कहा जाता है। यद्यपि दुष्यन्त और पुरुरवा को आध्यात्मिक रूप से उतना उन्नत नहीं दिखलाया गया है, लेकिन उनके प्रजा पालन के कार्य को न्यून भी नहीं कहा जा सकता है। सैन्य व्यवस्था के रूप में भी कालिदास अपने नाटकों में अत्यधिक प्रकाश डालते हैं। रथ, हय, गज और पैदल चार प्रकार की सेनाओं का उल्लेख यहाँ मिलता है। सेनाओं का संचालन सेनापति के द्वारा किया जाता था। सेनापति के विषय में अभिज्ञानशाकुन्तल[17] और मालविकाग्निमित्र[18] में कालिदास चर्चा करते है। सेना के रूप में विक्रमोर्वशीयम् में रथ और घोड़ा की बात कही गयी है[19] अभिज्ञानशाकुन्तल में राजसिंहासन को धर्मासन की संज्ञा से विभूषित किया गया है[20] वहीं विक्रमोर्वशीयम् में भी धर्मासन का उल्लेख किया गया है।[21] इसी प्रकार यहाँ दूत, गुप्तचर आदि का भी संकेत मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में अमात्य का महत्त्व भी प्रदर्शित किया गया है। हमारे धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में राजा के सहायक के रूप में अमात्य का वर्णन किया गया है। राजा अपने अमात्य को निर्देश देता था जिसके विषय में कालिदास कहते हैं- **वेत्रवती! मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्यमाभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।**[22] अर्थात् प्रतिहारी जाकर मेरी ओर से अमात्य पिशुन से कह आओ कि आज मैं देर से उठा हूँ, इसलिए न्याय कार्य के लिए सभा भवन में नहीं पहुँच पाऊंगा। प्रजा का जो कुछ भी कार्य हो वह आप लिखकर मेरे पास भिजवा दीजिएगा। इस प्रकार राजा की अनुपस्थिति में राजा का कार्य मन्त्री ही करता था और प्रजा की समस्या को वह राजा से अवगत कराता था। यदि कालिदास का दण्ड व्यवस्था की बात की जाय तो अभिज्ञानशाकुन्तल के छठे अंक में बड़े रोचक ढंग से दो सिपाहियों द्वारा धीवर को पकड़ने का वर्णन मिलता है। यह घटना समूचे कथानक को नया मोड़ दे देती है। यहाँ नगर का अधिकारी राजा का साला बताया गया है। दो सिपाही एक धीवर को राजा की अंगूठी चुराने के आरोप में हाथ बाँधकर ले जाते हैं। दोनों सिपाहियों ने मारते हुए उससे पूछा- **अरे कुम्भरिक कथय कुत्र त्वयैतन्मणि बन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमंगुलीयकं समासादितम्।**[23] अर्थात् अरे चोर बतलाओ जड़ी हुई मणि पर

खुदे हुए नाम से युक्त यह राजा की अंगूठी तूने कहां पाई। धीवर बड़ी विनम्रता पूर्वक कहता मैं शक्रावतार (शचीतीर्थ) नामक तीर्थ में रहने वाला धीवर हूँ। जाल वंशी आदि जल में डालकर मैं मछली पकड़ता हूँ और उसी से अपने परिवार की जीविका चलाता हूँ। उसके इस कथन पर राजा का साला उपहास करते हुए कहता है कि यह तुम्हारी बहुत पवित्र आजीविका है। वह धीवर बड़ी कुशलता से उत्तर देता है महाराज ऐसा मत कहिये। वंश परम्परा से चले आने वाला निन्दनीय कार्य भी नहीं छोड़ना चाहिए। यज्ञ में पशु-हिंसा जैसा क्रूर कर्म का कर्त्ता वेदपाणि ब्राह्मण वस्तुतः कृपा से कोमल हृदय वाला ही होता है- **सहजं किल यद विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् पशुमारणकर्म दारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः।।**[24] धीवर को अपनी आजीविका पर अभिमान है। मनुस्मृति में भी वंश परम्परा की आजीविका को स्वीकारने की बात कही गयी है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी शास्त्र विधि से कर्म करने का निर्देश दिया गया है। पुनः राजा के साला द्वारा पूछने पर वह धीवर बताता है कि एक दिन मैंने एक रोहू मछली पकड़ी। उसे जब मैंने चीरा तो उसके पेट के भीतर रत्न से चमकती हुई यह अंगूठी मुझे मिली। उसे बेचते हुए मैं आप लोगों के द्वारा पकड़ा गया। इस प्रकार धीवर को राजा के समक्ष पहुँचाया जाता है। अंगूठी देखते ही राजा को शकुन्तला का स्मरण हो जाता है। धीवर पर लगा आरोप खण्डित हो जाता है, कोतवाल आदेश देता है कि जाल से जीविका चलाने वाले मल्लाह को छोड़ दिया जाय। इस अंगूठी के मिलने की बात सच है। उसे अंगूठी के मूल्य के बराबर पुरस्कार भी दिया जाता है। इस प्रकार यहाँ पर दण्ड व्यवस्था के एक स्वरूप का झलक उपस्थित करने का प्रयास कालिदास के द्वारा किया गया है। इसी प्रकार उत्तराधिकार के सम्बन्ध में एक कथानक अभिज्ञानशाकुन्तल में दिया गया है। प्रतिहार एक पत्र लेकर राजा के पास उपस्थित होता है। पत्र अमात्य के द्वारा भेजा गया था। पत्र इस प्रकार था- **समुद्र व्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्न अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवती बहु धनत्वाद् बहुपत्नी केन तत्र भवता भवितव्यम्। विचार्यतां यदि काचिदासपन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।**[26]

अर्थात् समुद्र के द्वारा व्यापार करने वाला धर्म मित्र नामक व्यापारियों का मुखिया नौका दुर्घटना में मर गया। वह बेचारा निःसन्तान है। अतः उसका धन संग्रह राजा को प्राप्त होना चाहिए। यह अमात्य ने लिखा है। निश्चय ही निःसन्तान होना महान् कष्टकारक है। वेत्रवती उस व्यक्ति के पास प्रभूत सम्पत्ति थी। अतः

उसकी बहुत सी स्त्रियां होनी चाहिए। पता लगाया जाय शायद उसकी स्त्रियों में कोई गर्भिणी हो। प्रतिहारी के द्वारा पता चलता है कि अयोध्या के निवासी सेठ की पुत्री जिसका पुंसवन संस्कार हुआ है वह उसकी पत्नी है। इसके बाद राजा आदेश देता है- **ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ एवममात्यं ब्रूहि।**[27] अर्थात् गर्भस्थ बालक पैतृक धन का अधिकारी है। जाओ ऐसा मन्त्री से कह दो। इसके बाद दुष्यन्त भी अपने सन्तान हीनता पर दुःख व्यक्त करता है **एवं भो संततिच्छेदनिरवलम्बनां कुलानां मूलपुरुषावसाने सम्पदः परमुपतिष्ठन्ते। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः।**[28] अर्थात् इस प्रकार सन्तति के अभाव के कारण निराश्रित कुलों की सम्पत्तियाँ वंश के व्यक्ति के मर जाने पर दूसरे को प्राप्त हो जाती है। मेरे भी मर जाने पर पुरुवंश की लक्ष्मी की यही हालत होगी। वह पुत्र के अभाव में अनेक प्रकार से चिन्ता करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास ने राजा के कर्त्तव्य के साथ कर व्यवस्था, दण्ड व्यवस्था और उत्तराधिकार का जो अपने नाटकों में चित्रण किया है वह निःसन्देह राजधर्म के महत्ता को प्रदर्शित करता है।

सन्दर्भ

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 5, पृ.296 2. वही, पृ.298, 3. वही, 5/19
4. वही, 1/11, 5. वही, 2/14, 6. वही, 5/5, 7. वही, 5/6,
8. वही, 5/7, 9. वही, 5/8 10. वही, 5/14, 11. विक्रमोर्वशीयम्, 2/1,
12. मालविकाग्निमित्रम्, 5/20 13. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2/12
14. वही, 5/4 15. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/3 के अनन्तर
16. विक्रमोर्वशीयम्, 5/5 के अनन्तर 17. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2/4
18. मालविकाग्निमित्रम्, 5/14 के अनन्तर
19. विक्रमोर्वशीयम्, 1/5, 13, 14, 15
20. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/3 के अनन्तर
21. विक्रमोर्वशीयम्, 2/1 के अनन्तर
22. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6/7 के अनन्तर 23. वही, अंक 6, प्रारम्भ
24. वही, 6/1 25. श्रीमद्भगवद्गीता, 17/24
26. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 6/22 के अनन्तर
27. वही 28. वही, 6/23 के अनन्तर

21

छत्रपतिसाम्राज्यम् में स्वतन्त्रता का स्वर

नौनिहाल गौतम

साहित्य या काव्य का प्रणयन सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर किया जाता है। सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण होने के कारण यह 'समाज का दर्पण' कहा जाता है। काव्य का मुख्य आधार कवि की चिन्तनशक्ति तथा सूक्ष्मग्राह्यता होती है। कवि चिन्तनशील व विशिष्ट सामाजिक प्राणी है अतः उसकी कृतियों में तत्कालीन घटनाक्रम की छाप दिखाई पड़ती है। कभी कभी कवि सामाजिक चेतना के लिए तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर तत्सम्बन्धित विषय-वस्तु को आधार बनाकर भी काव्य प्रणयन करता है जैसे कि स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति देने के लिए समय-समय पर काव्यों का प्रणयन हुआ। इसी क्रम में संस्कृत कवि श्री मूलशङ्कर माणिकलाल याज्ञिक ने भी महत्त्वपूर्ण कृतियों का सर्जन किया है। इन रचनाओं में शिवाजी पर आधारित 'छत्रपतिसाम्राज्यम्' महत्त्वपूर्ण है। इस कृति में स्वतन्त्रता का तीव्र स्वर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

कवि परिचय - कवि श्री मूलशङ्कर माणिकलाल याज्ञिक का जन्म गुजरात प्रदेश के खेड़ा जनपद के नडियाद गाँव में 31 जनवरी 1886 को हुआ। इनकी माता अतिलक्ष्मी तथा पिता माणिकलाल थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा नडियाद में तथा उच्चस्तरीय शिक्षा बड़ौदा में हुई। बड़ौदा महाविद्यालय के तत्कालीन प्राचार्य श्री अरविन्द घोष के संरक्षण में रहकर ही इन्होंने बी.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् इन्होंने मुम्बई के इण्डिया स्पी. सी. बैंक में नौकरी कर ली। इसके बाद अनेक पदों पर कार्य करते हुए सन् 1924 में शिक्षक पद पर नियुक्त हुए। इसी समय इनकी काव्यप्रतिभा जागृत हुई। 30 वर्ष की अवस्था में ही इनकी नियुक्ति तत्कालीन

महाराज सयाजीराव ने अपने राजकीय संस्कृत कॉलेज, बड़ौदा में प्राचार्य पद पर कर दी। वहाँ ये सेवानिवृत होने तक व्याकरण, न्याय और साहित्य आदि समग्र शास्त्रों का अध्यापन कर छात्रों को सरस वाणी से तृप्त करते रहे। इनके द्वारा रचित तीन नाटक प्रतापविजयम्, संयोगितास्वयंवर तथा छत्रपतिसाम्राज्यम् हैं। वे 13 नवम्बर 1965 को चिरशान्ति में विलीन हो गये।[1]

छत्रपतिसाम्राज्यम् का परिचय- यह दस अंकों का ऐतिहासिक नाटक है। इसमें छत्रपति शिवाजी के सन् 1646 से 1674 तक के कार्यकलापों का सजीव चित्रण है। यह वैदर्भी रीति एवं भारती वृत्ति में गुम्फित सरल संस्कृत भाषा में विरचित महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें नाट्यशास्त्रीय विधान[2] के अनुरूप वीर रस की प्रधानता है। विभिन्न अलंकारों, छन्दों व भाँति भाँति के गेय पदों ने ग्रन्थ की रमणीयता को बढ़ा दिया है। नाटक के लिए वांछित अर्हताएं यथा- ख्यातवृत्त, पंचसन्धित्व, विलाससमृद्धियुक्तत्व, अनेक विभूतियों का समावेश, सुख-दुःख की समुद्भूति, अनेक रसों का संचार, पांच से दस तक अंक, नायक का प्रख्यातवंशत्व, धीरोदात्तत्व, प्रतापी आदि लक्षण इस नाटक में समायोजित हैं। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन सन् 1929 में हुआ। इस प्रकार देखा जाए तो इसकी रचना स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु हुए भीषण संघर्ष के दौरान हुई है।

छत्रपतिसाम्राज्यम् में स्वतन्त्रता का स्वर-

प्रकृत रचना में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ स्वतन्त्रता का तीव्र स्वर दिखाई देता है। उन स्थानों पर व्यक्त हुए भावों को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर निरूपित किया जा रहा है-

(1) **स्वतन्त्रता की चाह-** इस नाटक में दो स्थल ऐसे हैं जहाँ प्रार्थना और आशीर्वाद में भी स्वतन्त्रता की कामना की गयी है।

(क) शिवाजी भगवती भवानी से प्रार्थना करते हैं कि यदि इस भारतवर्ष में आर्यों का उद्धार करना चाहती हो तो उपस्थित विघ्नों को दूर करो। तद्यथा- 'कलयसि यदि हितमार्योद्धरणम्। वारय विघ्नशतानि।'[3]

(ख) गङ्गाधर भट्ट आशीर्वचन में कहते हैं कि स्वातन्त्र्य की भावना से प्रज्वलित संग्राम रूपी अग्नि में रिपुओं की आहुतियाँ गिरें। तद्यथा-

'स्वातन्त्र्यभावज्वलिताहवाग्नौ द्विषद्धविर्भिर्जनताप्रतर्पणैः।
निर्वाहिता मन्त्रिपुरोहितादिभिः साम्राज्ययज्ञो नितरां समृद्ध्यताम्।।'[4]

स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्रता संग्राम के समय लोक द्वारा प्रार्थनाओं और आशीर्वादों में की जाने वाली स्वतन्त्रता की कामना का स्वर कवि ने व्यक्त किया है।

(2) **स्वतन्त्रता प्रेम-** इस नाटक में स्वतन्त्रता प्रेम को व्यक्त करने वाले स्थलों में से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं-

(क) जिसके चारों ओर से स्वतन्त्रता रूपी अग्नि की लपटें फैल रही हैं ऐसा सह्याचल पर्वत शिवाजी के मन को प्रमुदित करता है। देखें- **'स्वातन्त्र्यवह्निज्वलितः समन्ततः सह्याचलो मोदयते मनो मे'**[5]

(ख) भूमि खोदने से प्राप्त धन को शिवराज साक्षात् मूर्तिमती स्वतन्त्रता देवी कहते हैं। द्रष्टव्य है-**'नैष निधिः किन्तु साक्षात् स्वातन्त्र्यदेवतैवास्मत्पुरतः समुल्लसति'**[6]

इस प्रकार जहाँ स्वतन्त्रता की क्रान्ति फैल रही है उस स्थान का प्रिय लगना और क्रान्ति के लिए आवश्यक धन को भी स्वतन्त्रता ही कहना, ये ऐसे तथ्य हैं जो स्वतन्त्रता के प्रति उत्कट प्रेम को प्रदर्शित करते हैं।

(3) **स्वतन्त्रता में बाधक तत्त्वों पर खिन्नता-** लक्ष्य प्राप्ति में बाधक तत्त्वों के प्रति खिन्न होना स्वाभाविक ही है। इस नाटक में भी स्वतन्त्रता प्राप्ति में बाधक तत्त्वों के प्रति खिन्नता निम्नलिखित स्थानों पर दृष्टिगोचर होती है-

(क) तानाजी मुगल बादशाह के अधीन होने के लिए हिन्दू राजाओं को ही जिम्मेदार ठहराते हुए कहते हैं कि अपनी उदरपूर्ति के लिए स्वार्थवश मुगल बादशाहों के आश्रित होकर हम लोग ही परतन्त्रता के कारण हैं-**'स्वोदरपूरणार्थं यवनेशमुपाश्रिता वयमेव तत्र कारणम्'**[7] स्वतन्त्रता संग्राम के परिप्रेक्ष्य में अपनी उदरपूर्ति के लिए अंग्रेजों की भक्ति करने वालों के प्रति ऐसी खिन्नता स्वाभाविक है।

(ख) एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि आपस में विद्वेष से कलुषित भावना वाले हम क्षत्रिय वीरों में स्वतन्त्रता प्राप्ति कहाँ? देखिए-**'एवं मिथो विद्वेषकलुषितेष्वस्मत्क्षत्रवीरेषु कुतः स्वातन्त्र्याधिगमो भारतीयानाम्?'**[8]

स्वतन्त्रता प्राप्ति रूपी लक्ष्य के प्रति विभिन्न मतभेद होने पर खिन्नता स्पष्ट है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि कवि ने स्पष्ट रूप से 'भारतीयों' की स्वतन्त्रता का उल्लेख किया है जो कि शिवाजी के स्थान पर कवि के काल का ज्वलन्त प्रकरण है। इससे कवि की भारतीय स्वतन्त्रता की चाह स्पष्टतया दिखाई पड़ रही है।

(4) **स्वतन्त्रता को प्राथमिकता-** अधोनिर्दिष्ट स्थल पर स्वतन्त्रता को सभी कार्यों से प्राथमिकता दी गयी है।

शिवराज राजमाता से कहते हैं कि यदि दुर्भाग्यवश स्थिति प्रतिकूल हो जाए तो उस समय आप स्वराज्य संस्थापन रूपी मेरे चरमलक्ष्य को अपने निर्देशन में उमाजीराज से चलाती रहें, यही प्रार्थना है। तद्यथा-**'कदाचिद् दुर्दैवतोऽत्र विपरीतमापद्येत तदानीं त्वयाऽधिश्ठितेनोमाजीराजेन प्रवर्तनीयः स्वराज्य-संस्थापनोद्योगः इत्येषा ममाभ्यर्थना'**[9] यहाँ स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के लिए जीवन अर्पित करने वालों का मृत्यूपरान्त भी स्वतन्त्रता प्राप्ति ही लक्ष्य रहा है।

(5) **स्वतन्त्रता के लिए त्यागभावना-** स्वतन्त्रता रूपी महान् लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए महान् त्याग की भावना इस नाटक में निम्नलिखित स्थलों पर दृष्टिपथ में अवतरित होती है-

(क) शिवराज प्रतिज्ञा करते हैं कि शत्रु द्वारा जलाई गयी संग्राम रूपी अग्नि में मैं अपना सम्पूर्ण सम्मान, धन, राजवैभव सामग्री, मित्रगण, राजपत्नियाँ, यहाँ तक कि अपना जीवन भी हवन करके स्वकल्पित धर्मराज्य की स्थापना करूंगा-

'मानं धनं राजविलासभोगान् मित्राणि दारानपि जीवितं च।
हुत्वा रिपुज्वालितहव्यवाहने संस्थापयिष्ये मम धर्मराज्यम्।।'[10]

(ख) तानाजी अपने पुत्र के मांगलिक वैवाहिक कार्य को तृण के समान अनदेखी कर राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत होकर सेनापतित्व अंगीकार कर लेते हैं। ऐसे तानाजी को शिवराज दाशरथि राम की संज्ञा देते हैं-

'तृणाय मत्वात्मजकौतुकक्रियां राष्ट्रैकभक्त्योद्वहता धुरं रणे।
एकान्ततो मातृनिदेशवर्तिना सम्पादितं दाशरथेर्यशस्त्वया।।'[11]

(ग) अनेक वीरों की आहुतियाँ स्वतन्त्रता संग्रामाग्नि में पड़ती हैं तभी साम्राज्य (स्वतन्त्रता) प्राप्ति होती है-**'अहो अनेकवीरव्ययसाध्या हि साम्राज्यसिद्धिः'**[12]

इन तथ्यों से सुस्पष्ट है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए त्याग की भावना चरम सीमा पर थी। लोक में स्वतन्त्रता प्राप्ति प्राणों की कीमत पर भी स्वीकार्य थी।

(6) **स्वतन्त्रता के समर्थकों की प्रशंसा-** इस नाटक में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति लोक में प्रशंसनीय दिखाये गये हैं-

(क) देश की स्वतन्त्रता की उच्च भावना से ओतप्रोत तथा स्वराज्य स्थापना हेतु कृतसंकल्प शिवराज को नटी पुरुष सिंह कहती है-

'पित्रोर्गुरोश्चाधिगतार्थविद्यो वीरानुरक्तः सवयोभिरावृतः।
स्वराज्यसंस्थापननिश्चितव्रतो गर्जत्ययं केसरिणः किशोरः।।'[13]

(ख) अपने राष्ट्र और राजा की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग करने वालों को धन्य कहा गया है-**'नूनं स एव निजदेशनरेशभक्तो धन्योऽस्ति यस्य निधनं ज्वलितं यशोभिः'**[14]

यहाँ स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करने वालों की समाज में प्रशंसा होती थी।

(7) स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपक्रम हेतु सुझाव- प्रकृत नाटक में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ कवि स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपक्रम के प्रति सुझाव देता प्रतीत होता है। निम्नलिखित स्थल द्रष्टव्य हैं-

(क) साहस से स्वतन्त्रता प्राप्ति को सम्भव बताया गया है। उदाहरण से कहा है कि पूर्व में युधिष्ठिरादिकों ने साहस से ही राज्य को स्वाधीन किया था-**'पुराऽपि साहसेनैव स्वायत्तीकृतं स्वपितृपैतामहराज्यं पाण्डुनन्दनैः'**[15]

(ख) संघशक्ति को संसार की सभी शक्तियों से श्रेष्ठ बताते हुए इसके द्वारा शक्तिशाली के भी पराजित होने की बात कही है-

'बलवन्तमप्यभिभवायोज्जृम्भते परा सङ्घशक्तिः'[16]

(ग) दुर्नीति के पोषक शत्रुओं पर माया का प्रयोग किए बिना कभी विजय प्राप्त नहीं हो सकती है-**'न विद्यते दुर्नयशालिनां जये मायाप्रयोगादपरा प्रतिक्रिया'**[17]

(घ) विजय सर्वत्र मन्त्रणा की गोपनीयता पर निर्भर करती है अतः मन्त्रणा की गोपनीयता में हमेशा सावधान रहना चाहिए- **'सर्वत्र मन्त्रगुप्त्यधीन एव विजयः। तन्मन्त्रसंवरणे सदैव त्वया सावधानेन भवितव्यम्।'**[18]

(ङ) जिसके पास राष्ट्रभक्ति में प्रवीण, साहसयुक्त, बलवान् तथा संग्राम में पराक्रमी सेवक हों, ऐसे राजा का स्वतन्त्रता देवी स्वयं वरण करती है-

'राष्ट्रैकभक्तिप्रवणैः प्रगल्भैः सत्त्वोच्छ्रितैरेव रणप्रवीरैः।
उपासितः सद्य उपैति भूमिपः स्वातन्त्र्यदेव्याः प्रणयस्य पात्रताम्।।'[19]

इस प्रकार साहस, संगठन शक्ति, दुष्टशत्रु पर माया प्रयोग, मन्त्रणा की गोपनीयता स्वतन्त्रता प्राप्ति उपक्रम हेतु आवश्यक बताए हैं, साथ ही राष्ट्रभक्ति में प्रवीण, साहसयुक्त बलवान् व पराक्रमी सेवकों से स्वतन्त्रता प्राप्ति को अवश्यम्भावी बताया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम अत्यधिक प्रभावशाली था। इस संग्राम का प्रभाव लम्बे समय तक जनमानस पर रहा। कवियों की रचनाएं भी इससे प्रभावित हुईं। काव्यों में इससे सम्बन्धित तथ्यों को स्थान मिला। समवर्ती तथा परवर्ती काव्यों पर इसका प्रभाव दिखाई देता है। सामयिक स्वतन्त्रता की चाह तथा स्वतन्त्र राष्ट्र की कल्पना कवि याज्ञिक की राष्ट्रिय भावना का प्रतीक है। उनके काव्यों में यह भावना पूर्णतः व्यक्त हुई है। उन्होंने स्वतन्त्रता के उपासक तथा हिन्दुत्व के रक्षक महाराणा प्रताप तथा शिवाजी की यशोगाथाओं को आधार बनाकर स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति प्रदान करने का उपक्रम किया। यही कारण है कि स्वतन्त्रता का तीव्र स्वर **'छत्रपतिसाम्राज्यम्'** में दिखाई देता है। इस नाटक में कवि की स्वतन्त्रता की चाह, स्वतन्त्रता प्रेम, स्वतन्त्रता के बाधक तत्त्वों पर खिन्नता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। कवि सभी कार्यो से स्वतन्त्रता को प्राथमिकता देता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्राणोत्सर्ग को कवि उचित ही मानता है। कवि स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करने वालों की प्रशंसा करता है साथ ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपक्रम हेतु सुझाव भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार कवि भी **'छत्रपतिसाम्राज्यम्'** कृति के माध्यम से स्वतन्त्रता आन्दोलन में अपना योगदान देता है। इति दिक्।।

सन्दर्भ-

1. *छत्रपतिसाम्राज्यम्, भूमिका, पृ. 5,6*
2. *एको रसोऽङ्गीकर्तव्यो वीरः शृङ्गार एव वा' दशरूपकम्, 3/33*
3. *छत्रपतिसाम्राज्यम्, पृ. 58*
4. *वही, 10/9*
5. *वही, 2/3*
6. *वही, पृ. 63*
7. *वही, पृ. 11*
8. *वही, पृ. 110*
9. *वही, पृ. 144*
10. *वही, 1/21*
11. *वही, 9/4*
12. *वही, पृ. 278*
13. *वही, 1/4*
14. *वही, 5/9*
15. *वही, पृ. 18*
16. *वही, पृ. 26*
17. *वही, 1/19*
18. *वही, पृ. 35*
19. *वही, 5/5*

22

प्रतिमानाटक में सामाजिक और राष्ट्रीय गौरव

रामहेत गौतम

'मोदन्तां जन्मभाजः' यह कवि(स्रष्टा) का सपना है। राजा का दायित्व भी है कि अपने राज्य में समाज के सुख की स्थिति पैदा करे। अतः इन्द्र के द्वारा ब्रह्मा से लोकहित में पञ्चम वेद के निर्माण के लिए निवेदन किया जाता है-

ग्राम्यधर्मे प्रवृत्ते तु काम-लोभवशं गते। ईर्ष्या-क्रोधादि-संमूढे लोके सुखित-दुःखिते।
महेन्द्रप्रमुखै-देवैरुक्तः किल पितामहः। क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्।
न वेद व्यवहारोयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु। तस्मात् सृजोपरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्।।[1]

अर्थात् सामाजिकों में ग्राम्य धर्म की प्रवृत्ति अधिक हो जाने पर लोग काम, लोभ, ईर्ष्या, क्रोध आदि के वशीभूत हो जाने पर महेन्द्र अपने प्रमुख देवों को साथ लेकर पितामह से निवेदन करते हैं कि आज लोक हित के लिए दृश्य-श्रव्य मनोरञ्जन के साधन की आवश्यकता है। क्योंकि वेदों का व्यवहार शूद्र जातियों में हो नहीं सकता है। अतः सार्ववर्णिक पञ्चमवेद की रचना कीजिए। इस प्रकार संस्कृत की नाट्य रचनाओं में लोकहित की कामनाएं हैं। नाट्यरम्परा में भास के नाटकों का भी एक विशिष्ट स्थान है। प्रतिमानाटकम् पर यहाँ विमर्श किया जा रहा है। इसमें सामाजिक व राष्ट्रीय गौरव पर विमर्श से पहले समाज व राष्ट्र को समझ लेना आवश्यक है। अतः समाज शब्द पर गौर किया जाये तो हम पाते हैं कि- संवीयतेऽत्रेति समाजः। सं अज घञ् (अजेर्व्यघञ्पोः 2.4.56) इति वीभावो न। अजिव्रज्योश्च 7.3.60 इति कुत्वविषेधः।) पशुभिन्नानां संघः इत्यमरः। पशुता से इतर साहित्य संगीत कला समन्वित प्रेम धर्म से युक्त मानवीय समूह समाज है। ऐसा स्पष्ट हो जाने के बाद अब राष्ट्र शब्द पर विचार करते हैं-

दीप्त्यर्थक राज् धातु से निष्पन्न राष्ट्र शब्द का प्रयोग वेद से वर्तमान तक राज्य अथवा साम्राज्य के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। जहाँ जनता पिता तुल्य रक्षण में संरक्षित, संवर्धित व सुखी रह सके। समाज और राष्ट्र शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करने के बाद राष्ट्रीय गौरव की बात करें तो हम संस्कृत जगत् को देखने पर पाते हैं कि भरतवाक्य की परम्परा में समाज व राष्ट्र के गौरव की वृद्धि की कामना की जाती रही है। नाट्य साहित्य का उदय तो समाज व राष्ट्र को ध्यान में रखकर ही हुआ है। जैसा कि भरत मुनि लिखते हैं कि- लोकहित के लिए पंचम वेद की रचना का निवेदन ब्रह्मा जी से देवराज इन्द्र के द्वारा किया गया। नाट्य में लोक का अनुकीर्तन किया जाता है। संस्कृत जगत का नाट्य साहित्य वृहद् है। उसमें समाज व राष्ट्र के गौरव की वृद्धि का उद्यम देखने को मिलता है। अब बात करते हैं गौरव की, तो गौरव शब्द से तात्पर्य है गुरुत्व का भाव, बड़प्पन का भाव, महत्त्व, सम्मान, आदर का भाव। अब तक के विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना गौरव होता है। प्रत्येक समाज व राष्ट्र का गौरव होता है। यह गौरव सदा संरक्षित, संवर्धित हो इसके लिए कवियों ने सदा उद्यम किये हैं। नाट्य परम्परा के आरम्भिक महाकवि भास लिखते हैं कि-

इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः।।[2]

हिमालय से सागर पर्यन्त सीमा वाली राष्ट्रभूमि पर एक छत्र प्रशासक शासन करें। यहाँ राष्ट्र के संगठित करने की कामना की गई है। राष्ट्र के एकीकृत व संगठित रहते हुए राष्ट्र में विद्यमान समस्त संसाधन सबके लिए यथा योग्यता उपलब्ध रहने चाहिए। साथ ही सबको योग्यता अर्जित करने के लिए सुविधायें व अवसर राष्ट्र के नियन्ताओं के द्वारा उपलब्ध कराये जाने चाहिए। शासक अपने परिजनों के साध मिलकर सम्यक् उपायों से राज्यलक्ष्मी का अर्जन करें ऐसी कामना करते हुए लिखते हैं-

यथा रामश्च जानक्या बन्धुभिश्च समागतः।
तता लक्ष्म्या समायुक्तो राजा भूमिं प्रशास्तु नः।।[3]

अर्थात् सीता और बन्धुजनों के साथ राम के द्वारा राज्य सुख भोग की भाँति राज्यलक्ष्मी से युक्त हमारे शासक पृथ्वी का पालन करें। व्यक्ति के बाद परिवार

दूसरी प्रमुख इकाई है। प्रत्येक व्यक्ति गौरवान्वित जीवन जीयेगा तो परिवार भी गौरवान्वित होगा। परिवार के लोग एक-दूसरे के सम्मान, सुरक्षा का ध्यान रखते हुए। जीवन जियें तथा परिवार का मुखिया सबको साथ लेकर चलेगा तो सामाजिक गौरव संरक्षित होगा। प्रतिमा नाटक में राम के अभिषेक की तैयारी के अवसर पर खेले गये नाट्य में प्रयुक्त हो चुके अशोक के पत्त न देने पर चिढ़ाने के लिए वहाँ से वल्कल उठा लाने पर सीता लौटाने को कहती है तब अवदातिका अपने कृत्य को अनुचित मानने को तैयार नहीं है। समझाते हुए सीता कहती है कि- **उन्मत्तिके एवं दोषो वर्धते। गच्छ, निर्यातय, निर्यातय।**[4] यह घटना सामान्य सी दिखती है पर व्यक्ति, सामाजिक गौरव के विरुद्ध है। आपसी फूट, तिरस्कार तथा वहिष्कार पारिवारिक तथा सामाजिक गौरव को क्षति पहुँचाते हैं। विपत्ति का कारण आत्मीयजन होने की सूचना पर राम के मुख से महाकवि भास कहलवाते हैं कि- **स्वजनादिति। हन्त!, नास्ति प्रतिकारः। शरीरेरिः प्रहरति हृदये स्वजनस्तथा। कस्य स्वजनशब्दो मे लज्जामुत्पादयिष्यति?**[5] अर्थात् शत्रु का आघात शरीर मात्र पर होता है। किन्तु आत्मीयजनों का आघात अन्तःकरण को बींध देता है। पता नहीं इस विपत्ति के पीछे कौन परिजन है। जिसका नाम लेने पर भी मुझे लज्जा आती है। विमर्श यह है कि आपसी आघात-प्रतिघात से बचकर ही पारिवारिक व सामाजिक गौरव को अक्षुण्य रखा जा सकता है। प्रशासकों का अपने अधीनस्तों को अनुशासित रखना राष्ट्रीय गौरव को संरक्षित रखता है। लेकिन जब अधीनस्त अकारण सताये जाने लगें तो विद्रोही स्वर भी पनपने लगते हैं। जैसा कि प्रतिमानाटकम् के तृतीय अङ्क के आरम्भ में भट के द्वारा अकारण ही पीटे जाने पर सुधाकर विद्रोही स्वर में कहता है कि- **अधन्यस्य मम कार्तवीर्यस्येव बाहुसहस्रं नास्ति। ---त्वां हनिष्यामि।** अर्थात् मेरा तो जीवन ही खराब है जो सहस्रबाहु नहीं हूँ अन्यथा मैं भी तुम्हें मार सकता था। प्रतिमानाटकम् के तृतीय अङ्क में प्रतिमादर्शन के अवसर पर देवकुलिक का कथन- **न खल्वेतैः कारणैः प्रितषेधयामि भवन्तम्। किन्तु दैवशङ्कया ब्राह्मणजनस्य प्रणामं परिहरामि। क्षत्रिया ह्यत्रभवन्तः।** अर्थात् मैं अन्य कारणों से आपको नहीं रोक रहा था मैं तो इसलिए मना कर रहा हूँ कि कोई ब्राह्मण होकर कहीं देवताओं के भ्रम से इन्हें प्रणाम न कर ले। ये मूर्तियाँ क्षत्रिय महानुभावों की हैं।[6] इस प्रसङ्ग में तत्कालीन वर्णभेद की झलक देखने को मिलती है। जो कि कालान्तर में समाज के विघटन का कारण बनती है और सामाजिक व राष्ट्रीय गौरव

का ह्रास होता है। आज ऐसे वर्ताव से समाज को बचना होगा। पति के साथ द्रोह की स्थिति में स्त्री का उसके पुत्रों पर से अधिकार नहीं रह जाने का सिद्धान्त कवि के समय में रहा होगा तभी तो कवि कैकेयी के पति से वर मांग लेने को पतिद्रोह मानकर भरत के मुख से कवि कहलवाते हैं कि भर्तृद्रोहादस्तु मामोप्यमाता। अर्थात् जो स्त्री अपने पति से द्रोह करे, वह पुत्रवती होकर भी माँ कहलाने की अधिकारिणी नहीं है। भरत के द्वारा इस नये धर्म की स्थापना तत्कालीन परिस्थितियों में भले ही सामाजिक गौरव के अनुकूल रही हो पर आज के सन्दर्भों में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। आज यह नियम समाज को गौरवान्वित नहीं करेगा और न ही राष्ट्र ऐसे नियम से गौरवान्वित होगा। **'सुपुरुष! पुरुषाणां मातृदोषो न दोषो'**[7] अर्थात् हे महानुभाव! लोग माँ के अपराध के लिए अपराधी नहीं हो सकते। कहा जा सकता है कि एक की गलती के लिए सम्पूर्ण परिवार व समाज को दोषी नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत व्यवहार सामाजिक व राष्ट्रीय गौरव के विरुद्ध होता है। कोई भी बात पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय विघटन का कारण बने उसे पहले ही आपसी संवाद के माध्यम से सुलझा ली जाये तो ही उत्तम है। जैसे कि भरत भाईयों के बीच पनप रहे मन के मैल को अपने उद्यम से धोकर मन ही मन सोचते हैं कि-

हन्त भोः! श्रद्धेयः स्वजनस्य पौररुचितो लोकस्य दृष्टिक्षमः,
स्वर्गस्थस्य नराधिपस्य दयितः शीलान्वितोहं सुतः।
भ्रातृणां गुणशालिनां बहुमतः कीर्त्तेमहद् भाजनं,
संवादेषु कथाश्रयो गुणवतां लब्धप्रियाणां प्रियः।।[8]

इस प्रसङ्ग से एक ऐसे व्यक्तित्व का संदेश प्राप्त होता है कि जो समाज व राष्ट्रीय गौरव के अनुकूल हो। प्रत्येक शासक व नागरिक का ऐसा व्यक्तित्व होना चाहिए। एक शीलवान शासक जनता को स्वीकार्य होता है। भरत की जन-स्वीकृति को देखते हुए राम भरत से कहते हैं कि- **'वत्स! कैकेयीमातः! राज्यं नाम मूहूर्तमपि नोपेक्षणीयम्। तस्मादद्यैव विजयाय प्रतिनिवर्ततां कुमारः।'** अर्थात् हे प्रिय भरत राज्यरक्षण निमित्त तुम अभी लौट जाओ।[9] यहाँ पर भी राज्य हित सर्वोपरि रखने का संदेश निहित है। सबको सम्मान, सुरक्षा, समृद्धि, शिक्षा के अवसर सबको समान रूप से प्राप्त हों। यह समता प्रत्येक नागरिक को गौरवमय जीवन प्रदान करता है। प्रतिमानाटक के चतुर्थ अङ्क में राम कहते हैं कि- **तात! महाराजवत् परिपाल्यातां कुमारः।**[10] अर्थात् हे तात, महाराज के समान ही कुमार का संरक्षण

कीजिए। इस कथन में समता के भाव का बोध होता है। समाज में सबको समभाव से समझने पर राष्ट्र सुरक्षित व संवर्धित होता है। तभी तो भारतीय संविधान की प्रस्तावना में समता पर जोर दिया गया है। इससे समाज व राष्ट्र का गौरव अक्षुण्य बना रहता है। जिसके लिए संघर्ष भी आवश्यक माना जाता है। राजपरिवार के लोग अपनी जनता के जीवन के संघर्ष को जानते हुए नीति निर्धारण में ज्यादा सतर्कता रखते हैं -

योस्याः करः श्राम्यति दर्पणेपि सः नैति खेदं कलशं वहन्त्याः।
कष्टं वनं स्त्रीजन-सौकुमार्यं समं लताभिः कठिनी-करोति।।[11]

श्राद्धविधि विचार करते राम को छलने के लिए रावण अविरक्त होकर भी विरक्त का वेष धारण करता है। राम की प्रशंसा करता है कि- **साधु विशेषेषितं खलु रूपं स्वरेण।**[12] अर्थात् इसके स्वर ने इसके स्वरूप को और अधिक चमत्कृत कर दिया है। इस कथन से यह ज्ञात होता है कि शारीरिक सौन्दर्य के साथ-साथ चारित्रिक सौन्दर्य अर्थात् शील भी हो तो विरोधी भी प्रशंसा करने से नहीं बच पाते। इस प्रकार शील सामाजिक गौरव का पोषक व संवर्धक है। **विरुढेषु दर्भाः, ओषधिषु तिलाः, कलायं शाकेषु, मत्स्येषु महाशफरा, पक्षिषु वाघ्रीणसः, पशुषु गौः खड्गो वा, इत्येते मानुषाणां विहिताः।**[13] सौवर्णान् वा मृगांस्तान् मे हिमवान् दर्शयिष्यति। भिन्नो मद्बाण-वेगेन क्रोञ्चत्वं वा गमिष्यति।। अर्थात् हिमालय स्वयं उस स्वर्णमृग को मेरे सम्मुख लायेगा, तथा मेरे वाण से बिंधकर क्रोञ्चपर्वत की दशा को प्राप्त करेगा।[14] **तातस्यैतानि भाग्यानि यदि स्वयमिहागतः। अर्हत्येष हि पूजायां लक्ष्मणं ब्रूहि मैथिलिः।।**[15]

राम के इस प्रकार कहकर मृग के पीछे-पीछे चले जाने पर रावण पुनः राम की प्रशंसा में कहता है कि- **अहो बलमहो वीर्यमहो सत्त्वमहो जवः। राम इत्यक्षरैरल्पैः स्थाने व्याप्तमिदं जगत्।।**[16]

बाद में अपने वास्तविक स्वरूप में आ जाता है और कहता है कि-

युद्धे येन सुराः सदाननवगणाः शक्रदायो निर्जिताः,
दृष्ट्वा शूर्पणखादिविरूकरणं श्रुत्वा हतौ भ्रातरौ।
दर्पाद् दुर्मतिमप्रमेयबलिनं रामं विलोभ्यच्छलैः,
स त्वां हर्तुमना विशालनयने! प्राप्तोस्म्यहं रावणः।।[17]

अर्थात् जिसने संग्राम में देव और दानवों को पराजित किया, जिसने शूर्पणखा का नासा भंग देखा, जिसने खरदूषण जैसे भाई का वध सुना-वही मैं रावण हूँ। इस समय दर्प से उद्धत दुर्मति राम को अपनी माया से दूर हटाकर तुम्हें हरने आया हूँ। इस प्रकार बदले की भावना से सीता के हरण की बात उद्घाटित हो जाती है। मूल बात यह है कि बदले की भावना से समाज हमेशा पिशता रहा है। शूर्पणखा हो या सीता दोनों ही मामले में स्त्री ही पिसती है। स्त्री सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार स्तम्भ मानी जाती रही है। स्त्रीगौरव पुरुष गौरव के संघर्ष में छला जाता रहा है। फिर भी स्त्रीगौरव के बिना सामाजिक गौरव अधूरा ही है, अतः स्त्रीगौरव के संरक्षण में ही समाज, संस्कृति, सभ्यता व राष्ट्र का गौरव निहित है। जटायु द्वारा मैत्री निभाने के लिए सीता की रक्षा में अपने प्राण की बाजी लगा दी जाती है। यह इस बात का साक्ष्य है कि मैत्री सामाजिकों को आपस में बाँध कर रखती है। सुख-दुःख में उन्हें एक साथ खड़ा होने से लिए प्रेरित करती है। अतः सामाजिक व राष्ट्रीय गौरव के लिए मैत्री आवश्यक है। मैत्री ही सनातन है। **न हि वेरेन वेरानि संमंतीध कुदाचनं, अवेरेन च संमंती एस धम्मो सनंतनो।। धम्मपद।** भारतीय समाज में रिस्ते-नातेदारियाँ भी सामाजिकों जोड़कर रखती हैं। जैसे कि पिता की आज्ञा पालन के लिए राम का वन चले जाना, पति का साथ निबाने के लिए सीता का भी साथ में जाना, भ्रातृप्रेम में लक्ष्मण द्वारा राम का साथ न छोड़ना। प्रत्येक के व्यक्तिगत गौरव के साथ-साथ सामाजिक गौरव भी इन नातेदारियों के निभाने में संरक्षित रहा है।

कुतः क्रोधो विनीतानां, लज्जा वा कृतचेतसाम्।
मया दृष्टं तु तच्छून्यं, तैर्विहीनं तपोवनम्।।[18]

अर्थात्- विनयीजनों को क्रोध कैसा?, निर्मल अन्तःकरण में लज्जा का प्रवेश कहाँ?, किन्तु जब मैंने तपोवन देखा उनसे शून्य था। वे किष्किन्धा(सुमन्त्रः अस्ति किल किष्किन्धा नाम वनौकसां निवासः।) नामक स्थान पर चले गये हैं। इस विवरण से एक आदर्श सामाजिक के व्यक्तित्व का वर्णन है। ऐसे सामाजिकों से समाज व राष्ट्र का गौरव समृद्ध होता है।

सर्वदुःखानुभूति- भी सामाजिक गौरव को बढ़ाती है। जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण में देखा जा सकता है- **सुग्रीवो भ्रंशितो राज्यात् भ्रात्र ज्येष्टेन बालिना।**

हृतदारो वसञ्छैले तुल्यदुःखेन मोक्षितः ।।[19] अर्थात् ज्येष्ठ भाई बाली के द्वारा सुग्रीव का राज्य व पत्नी छीन लिया गया है। अपने जैसी विपदा में जानकर राम ने उसके संकट को हर लिया है। यहाँ व्यक्त हुआ है कि यदि सामाजिक एक-दूसरे की समस्याओं को अपनी समस्या के रूप में देखें तो वे आपस में साथ देकर समस्यायों से समाज व देश को मुक्त करा सकते हैं। इससे सौहार्द बढ़ेगा तथा सामाजिक व राष्ट्रीय गौरव संवर्धित होगा।

जातीय गौरव रावण - (आत्मगतम्) **यावदहमपि ब्राह्मण-समुदाचारमनुष्टास्यामि। (प्रकाशम्) भोः! काश्यपगोत्रौस्मि। साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेनर्न्यायशास्त्रं, प्राचेतर्स श्राद्धकल्पं च।**[20] अर्थात् रावण- (अपने आप में) तो अब मैं ब्राह्मणों की तरह व्यवहार करता हूँ। (प्रकट रूप से) काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण। मैंने साङ्गोपाङ्ग वेद, मनु का धर्मशास्त्र, महेश्वर का योगशास्त्र, मेधातिथि का न्यायशास्त्र तथा प्रचेता का श्राद्धकल्प विधिवत पढ़ा है। यहाँ रावण के व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाता है कि- पैदा करने वाले के रक्त के आधार पर जातीय गौरव प्राप्त नहीं होता। महाभारत में कर्ण को गौरव रक्त के आधार पर प्राप्त नहीं हो सका। पालन करने वाले के आधार पर भी कोई जातीय गौरव से लाभान्वित अथवा वंचित नहीं होता। जैसे कि दुर्योधन का पालन तो उसी वंश में हुआ जिसमें पाण्डवों का पालन हुआ। विभीषण का जन्म तथा पालन भी उसी कुल में हुआ जिसमें रावण का हुआ। जहाँ रावण अपराधी है तो वहीं विभीषण गुणगणविभूषण है- **एष खलु स्वदारापहारिणं त्रैलोक्यविद्रावणं रावणं नाशयित्वा राक्षसगणविरुद्धवृत्तं गुणगणविभूषणं विभीषणमभिषिच्य देव-देवर्षिसिद्धविमल- चारित्रं तत्रभवतीं सीतामादाय --परिवृत्तः--रामः।**[21] इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि गौरव जन्म अथवा पालक के आधार पर अर्जित नहीं किया जा सकता। गौरव तो गुणों से ही अर्जित किया जा सकता है। **राजा किलास्मि भुविं सत तभारवाही, धर्मेण लोकपरि- रक्षणमभ्युपेतम्।**[22] अर्थात् धरती पर पुण्यभार का वहन करने वाला राजा बन गया हूँ। न्यायपूर्वक प्रजापालन का भार अब मैंने अपने ऊपर उठा लिया है। इस कथन से आज के प्रशासकों को प्रेरणा प्राप्त होती है कि वे न्यायपूर्वक प्रजापालन करें। उनके राज्य में सबको सम्मान, सुरक्षा, समृद्धि व शिक्षा के समान अवसर प्राप्त हो सकें। तभी सम्पूर्ण समाज व राष्ट्र का गौरवमयी विकास, संरक्षण व संवर्धन हो सकेगा। अतः भरतवाक्य है कि-

यथा रामश्च जानक्या बन्धुभिश्च समागतः।
तथा लक्ष्म्या समुक्तो राजा भूमिं प्रशास्तु नः।।[23]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कोई भी समाज व राष्ट्र गौरव के बिना जिंदा नहीं रह सकता। समाज के प्रत्येक व्यक्ति व राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का गौरव समान रूप से संरक्षणीय व संवर्धिनीय है।

संदर्भ -

1. *नाट्यशास्त्र-1.9,11,12*
2. *स्वप्नवासवदत्तम् -6.19*
3. *प्रतिमानाटकम्   7.15*
4. *वही, 1.4 के बाद सीता-अवदातिका का संवाद।*
5. *वही, 1.12*
6. *वही, 3.6 के बाद देवकुलिक का कथन।*
7. *वही, 4.20*
8. *वही, 4.27*
9. *वही, 4.27 के बाद राम का कथन।*
10. *वही, 4.28 के बाद राम का कथन।*
11. *वही, 5.3*
12. *वही, 5.4 के बाद राम का कथन*
13. *वही, 5.7 के बाद रावण का कथन।*
14. *वही, 5.9 से पूर्व रावण का कथन।*
15. *वही, 5.12*
16. *वही, 5.13*
17. *वही, 5.14*
18. *वही, 5.16*
19. *वही, 6.9*
20. *वही, 6.10*
21. *वही,*
22. *वही, 7.1 से पूर्व तापस का प्रथम कथन।*
23. *वही, 7.11*
24. *प्रतिमानाटकम्- भरतवाक्यम्*

23

भवभूति के कृतियों में स्त्री का भावनात्मक स्वरूप

शशिकुमार सिंह

प्राचीन काल से ही संस्कृत साहित्य स्त्री-पुरुष के सह-अस्तित्व एवं सम्पूरकत्व को व्याख्यायित करने वाला विश्व का महानतम साहित्य रहा है। संस्कृत के सुधी रचनाकारों ने स्त्री के सम्मान और पुरुष के पराक्रम-विवेचन को अपने रचनाकर्म में प्रमुख उपादान के रूप में अंगीकृत किया है। वैदिककाल से लेकर आधुनिक काल परयन्त संस्कृत साहित्य की सुदीर्घ सर्जना में स्त्री और पुरुष के परस्पर मंगलमय सामंजस्य का निरूपण संस्कृत कवियों का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। ऐतरेय ब्राह्मण में पत्नी को पति के मित्र के रूप में अभिवर्णित किया गया है - **सखा ह जाया**[1] आदिकाव्य रामायण में आदि कवि वाल्मीकि द्वारा राम और सीता दोनों को ही परस्पर स्वयं का अस्तित्व धारण करने के लिए परस्पर अनिवार्य बताया गया है। श्रीराम जहां एक ओर सीता के बिना अपने जीवन को दुःसाध्य मानते हैं। **न त्वहं तां विना सीतां जीवेयं हि कथंचन**[2] तो वहीं दूसरी ओर सीता राम के सानिन्ध्य को स्वर्ग की अनुभूति और राम के विरह को नरक रूप में अभिहित करती हैं - **यस्त्वया सह स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना** [3] महाभारत में भी स्त्री का पुरुष के प्रति और पुरुष का स्त्री के प्रति प्रभूत समर्पण भाव विवेचित किया गया है। महाभारत के वन पर्व में सत्यवान के मृत्यु के अनन्तर उसकी पत्नी सावित्री की अप्रतिम पति-भक्ति की मार्मिक अभिव्यंजना सावित्री अपने पति सत्यवान के बिना अपना जीवन ही व्यर्थ समझती हैं-

न कामये भर्तृविनाकृता सुखं, न कामये भर्तृविना कृता दिवं।
न कामये भर्तृविना कृते श्रियं, न भर्तृहीनां व्यवसामि जीवितुम्।।[4]

स्त्री पुरुष सम्पूरकत्व का सुन्दर उदाहरण लाला लाजपतराय की प्रसिद्ध पुस्तक ''दुःखी भारत'' में देखा जा सकता है। जिसमें विष्णुपुराण एवं श्रीमद्भागवत पुराण के पद्यों का आशय स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि पुरुष विष्णु है, स्त्री लक्ष्मी। पुरुष विचार है, स्त्री भाषा। पुरुष धर्म है, स्त्री बुद्धि। पुरुष धैर्य है, स्त्री शांति। पुरुष है, स्त्री इच्छा। पुरुष दया है, स्त्री दान। पुरुष मंत्र है, स्त्री उच्चारण। पुरुष अग्नि है, स्त्री ईधन। पुरुष सूर्य है, स्त्री आभा। पुरुष विस्तार है, स्त्री सीमा। पुरुष युद्ध है, स्त्री शक्ति। पुरुष दीपक है, स्त्री प्रकाश। पुरुष दिन है, स्त्री रात्रि। पुरुष वृक्ष है, स्त्री फल। पुरुष संगीत है, स्त्री स्वर। पुरुष संगीत है, स्त्री स्वर। पुरुष न्याय, है स्त्री सत्य। पुरुष सागर है, स्त्री नदी। पुरुष स्तंभ है, स्त्री पताका और पुरुष आत्मा है, स्त्री शरीर।[5]

संस्कृत साहित्य के अप्रतिम नाटककार भवभूति ने भी अपनी विलक्षण नाट्य कृतियों में स्त्री के गरिमामय चरित्र की औदात्यपूर्ण विवेचना प्रस्तुत की है। उन्होंने स्त्री का पुरुष के साथ सह-अस्तित्व और परस्पर उनके अन्योन्याश्रित साहचर्य का मर्मस्पर्शी रूपायन किया है। कवि भवभूति संस्कृत नाट्यसाहित्य के स्वनामधन्य सुमेधासम्पन्न सुविख्यात रचनाकार हैं। उनके द्वारा विरचित उत्कृष्ट नाट्य साहित्य संस्कृत वाङ्मय की अमूल्य निधि है। महावीरचरित, उत्तररामचरित एवं मालतीमाधव प्रभृत त्रिविध नाट्य कृतियों में महाकवि भवभूति ने अपनी प्रकृष्ट काव्य प्रतिभा के चमत्कारपूर्ण विलास की हृदयावर्जक शाब्दिक उपस्थापना की है। भवभूति ने लोक के सामाजिक धार्मिक राजनीतिक आदि विविध पक्षों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि रखते हुये उसका पूर्ण प्रभविष्णुता के साथ विवेचना अपनी कृतियों में प्रस्तुत की हैं। मानवीय संवेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति भवभूति के नाट्य साहित्य की विशेषता रही है। यही कारण है कि लोकसम्मत यथापरक मानवीय मूल्यों का सरल एवं सहज भाषा में सुमधुर विवेचन भवभूति के साहित्य को अत्यंत महनीय तथा जन-सामान्य के लिए अतीव स्पृहणीय बनाता है। **'सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं व्रतम्'**[6]इस उद्घोष के कवि माध्यम से भवभूति लोक का आराधन, लोक की चिन्ता, लोक का अनुरंजन श्रेष्ठ मानव का प्रधान कर्म बताते है।

भवभूति के लोक वर्णन में स्त्री एवं पुरुष दोनों को समान महत्त्व प्राप्त है, इससे पुरुष चरित्र के औदात्यपूर्ण विवेचन के साथ-साथ स्त्री एवं पुरुष दोनों को

समान महत्त्व प्राप्त है, इसमे पुरुष चरित्र के औदात्यपूर्ण विवेचन के साथ-साथ स्त्री गौरव की प्रभूत मात्रा में प्रतिष्ठापना की गई है। यदि भवभूति ने उत्तरामचरित मे नायक राम के द्वारा स्वपत्नी सीता का लोक के आराधन के लिए परित्याग कराया है तो सीता विरह की विकट ज्वाला में राम के हृदय को भरपूर झुलसाया और तपाया भी है। राम के हृदय को भीतर ही भीतर छिपी हुई गाढ व्यथावाले करुण रस के पुटपाक की संज्ञा देते हुये सीता के बिना राम के जीवन को लक्ष्यविहीन बताया है- **अद्यावसितं जीतिव प्रयोजनं रामस्यं**[7] इस प्रकार स्त्री और पुरूष के आत्मीयतापूर्ण और विश्वासजनक आचार व्यवहार के अनेकानेक प्रसंग भवभूति के साहित्य में सहज ही दृष्टिगोचर होते हैं। भवभूति के नाट्य की स्त्री भावनात्मक रूप से अतीव सबल और सचेत है। स्त्री के सद्भाव की शक्तिमत्ता ही उसके स्वरूप को जगत् में सम्मानीय एवं यशस्कर बनाती है। यही कारण है कि भवभूति ने सौन्दर्य, प्रेम उल्लास, सहनशीलता, ममता, गाम्भीर्य आदि विविध भावों को स्त्रीसम्मानाभिवर्धक महनीय घटक के रूप में मान्यता देते हैं और उसकी सुन्दर अभिव्यंजना अपने अद्भुत शब्द के द्वारा अपने नाट्य कृतियों में करते हैं।

सौन्दर्य - अपनी आभा की मोहक प्रतीति से अन्तःकरण को रससिक्त कर देने वाली वस्तु, सौन्दर्य कहलाती है। उत्तररामचरित नाटक में कवि भवभूति ने विविध अवसरों पर स्त्री के सौन्दर्य का प्रभावशाली वर्णन प्रस्तुत किया है। उत्तररामचरित के चित्रदर्शन अंक में सीता के अनुपम सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए श्रीराम कहते हैं-

प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलै-
र्दशन मुकुलैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम्।
ललितललितैर्ज्योत्सनाप्रायैरकृत्रिविभ्रमै -
रकृत मधुरैरम्बानां कुतूहलमंगकैः ।।[8]

अर्थात् सीता के कपोलों पर लहराते हुये मन को हरने वाले सूक्ष्म और विरल केश विन्यास तथा कलियों के समान शोभा को धारण करने बाली सीता के मुख की दिव्य दन्तकान्ति अद्भुत आभा को प्रकट कर रही थी। चांदनी के समान नयनाभिराम शोभा वाली शैशवस्था की सीता भी कौशल्यादि माताओं में अतिशय दर्शनौत्सुक्य को उत्पन्न करती थी। सौन्दर्य वर्णन का सुन्दर उदाहरण मालतीमाधव प्रकरण के नायक माधव का नायिका मालती के प्रति वह कथन है जिसमें माधव

मालती को सौन्दर्य के श्रेष्ठतम अंशों के समुदाय से निर्मित भवन की अधिष्ठाता देवता के रूप में सम्बोधित करता है-

सा रामणीयकनिधेराधिदेवता वा
सौन्दर्यसारसमुदाय निकेतन वा।[9]

मालती के लावण्य का वर्णन करते हुए माधव कहता है कि मालती अतीव रमणीय है। इसकी सुन्दरता चम्पा के फूलों की माला के विलास के समान मन को आन्दोलित करने वाली है। मालती के अलसाए हुए अंग कामाग्नि को उद्दीप्त करने वाले हैं। इनका सुन्दर स्वरूप चित्त को मदमस्त और नेत्रों को धन्य करने वाला है। **सम्प्रति रमणीयतरा मालती ज्वलयति मनोभावाग्नि मदयति हृदयं कृतार्थयति चक्षुः। परिमृदति चम्पकावलिविलासलुलितालसैरङ्.गैः।**[10] इसी प्रकार भवभूति द्वारा अपने रूपकों में स्त्री के सौन्दर्य का निरूपण अनेकशः अतीव उदारता के साथ किया गया है।

प्रेम – प्रेम की विद्यमानता भवभूति के स्त्रीपात्र के चरित्र की प्रमुख विशेषता है। प्रेम के विविध रूप यथा पत्नी का पति के प्रति प्रेम, माता का पुत्र के प्रति प्रेम, प्रेमिका का प्रेमी के प्रति प्रेम आदि भवभूति के रूपकों में यत्र तत्र प्रायशः दृष्टिगोचर होते है। पत्नी का पति के प्रति प्रेम का सुन्दर उदाहरण है सीता का अपने पति राम के प्रति अगाध प्रेम-भाव। उत्तररामचरित के चित्रदर्शनक्रम में राम के भिन्न- भिन्न चित्रों को देखकर सीता विभोर हो जाती हैं। हर्ष और आनंद से प्रफुल्लित होकर वे कह उठती है। **सुष्ठु-शोभसे आर्यपुत्र, एतेन विनयमाहात्म्येन।** [11] माता का पुत्री के प्रति प्रेम के रूप में विश्वम्भरा पृथ्वी और भगवती गंगा का सीता के प्रति प्रेमभाव द्रष्टव्य है। लक्ष्मण के छोड़ने के पश्चात् जब सीता स्वयं को गंगा की गोद में प्रक्षिप्त कर देती हैं और लव-कुश को जन्म देती हैं तो मातृस्वरूपा भगवती पृथ्वी और देवी गंगा उन्हें मातृत्व प्रेम को गहन छाया का सम्बल प्रदान करती हैं और सीता को उनके पुत्रों के साथ पाताल लोक को ले जाती हैं।

पुराकिल वाल्मीकितपोवनोपकण्डात् परित्पज्य निवृत्ते
लक्ष्मणे सीता देवी प्राप्तप्रसववेदनम् अतिदृःखसंवेगादात्मानं
गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती। तदैव तत्र दारकद्वयं प्रसूता।
भगवतीभ्यां पृथ्वीभागीरथीभ्याम् अभ्युपपन्ना रसातलं नीता।[12]

भागीरथी के प्रति सीता का इतना गहरा प्रेमानुराग है कि वहे भागीरथी के वनवास काल के उपकारों को हृदय से स्मरण करती हैं और इच्छा व्यक्त करती हैं कि वह पुनः भागीरथी से जाकर मिलें, प्रसन्न एवं गंभीर वनश्रेणियों में विचरण करें और भागीरथी के पवित्र शीतल जल में अवगाहन करें - **जाने पुनरापि प्रसन्नगम्भीरासु वनराजिषु विहृत्य पवित्र निर्मलशिशिरसलिलां भगवतीं भागीरथी मवगाहिष्य इति।।**[13] इसी प्रकार सीता अपने पुत्रों लव और कुश के प्रति सीता का प्रेम, कौशल्या का पुत्र राम के प्रति प्रेम, मंदोदरी का पति रावण के प्रति प्रेम, आदि विभिन्न सन्दर्भो का मार्मिक वर्णन महाकवि भवभूति अपनी कृतियों मे अत्यन्तं मनोहरता के साथ किये हैं।

उल्लास - हर्ष, प्रसन्नता, आनंद आदि के प्रति स्वच्छन्द जिज्ञासा ही उल्लास कहलाती है। भवभूति के स्त्री पात्र इसी उल्लास को अपने अन्तःकरण में धारण करने मे सफल दिखाई देते हैं। उत्तरामचरित में सीता के द्वारा अष्टावक्र मुनि से सभी श्रेष्ठ जनों का समाचार पूछते हुए यह यह उल्लासपूर्ण जिज्ञासा प्रकट की जाती हैं कि क्या सभी श्रेष्ठजन कुशलता पूर्वक तो हैं ?

भगवान्! नमस्ते! अपि कुशलां सजामातृकस्य
गुरूजनस्यार्यायाः शान्तायाश्च।[14]

पुनः सीता के मन में यह जानने का भी कौतूहल जागृत होता है कि सम्मानीय ऋष्यशृंग के यहां गये हुए उनके श्रेष्ठ जन उन्हें याद करते है कि नहीं ? **अस्मान् वा स्मरति**[15]

यहां सीता के हृदय में उल्लास की गहन भावना के दर्शन होते हैं। निर्वासन के बारह वर्ष के पश्चात् जब सीता श्रीराम का दर्शन पाती हैं तो भयभीत हो जाती है। परन्तु तत्क्षण प्रिय के दर्शन की आशा से अस्पष्ट ध्वनि को भी राम का स्वर समझ बैठती हैं और वह वैसे ही उत्कंठित और उल्लसित हो जाती हैं जैसे मेघ ध्वनि के श्रवण से मयूरी उल्लसित हो जाती है-

अपररिस्फुट निस्वाने कुतस्येडपि त्वमीदृशी।
स्तनयित्नोर्मयूरीव चकितोत्कंठितं स्थिता।।[16]

सहनशीलता - अन्तःकरण में उत्पन्न असह्य दुःख को भी सहन कर लेने में भवभूति के स्त्री पात्र समर्थ दिखाई देते हैं। राम के द्वारा सीता के निर्वासन से निश्चित रूप से सीता को अत्यधिक पीड़ा होती है, असहनीय दुःख की अनुभूति

होती है परन्तु सीता उसे भी सहज रूप से सह लेती हैं। दुःखी सीता का स्वरूप चित्रण करते हुए भवभूति उत्तररामचरित में कहते हैं कि -

परिपाण्डुदुर्बलकपोल सुन्दरं दधती विलोलकवरीकमाननम्।

करूणरस मुर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी।।[17]

अर्थात पूर्णतया पीले एवं कृश कपोलो से उपलक्षित, फिर भी नैसर्गिक रूप से सुन्दर बिखरे केशों से युक्त मुख को धारण किये हुये यह जानकी मूर्तिमान् करूण रस अथवा मूर्ति मती विरहव्यथा सी पंचवटी में प्रविस्ट हो रही है। इसी प्रकार जब सीता की सखी वासन्ती के द्वारा सीता के परित्याग पर दुःख प्रकट करते हुये राम को कठोर हृदयी कहा जाता है -

अयि कठोर यशः किल ते प्रियं, किमयशो ननु घोरमतः परम्।

किम भवद्विपिने हरिणीदृशः, कथय नाथ कथं वत मन्यसे।।[18]

वासन्ती का राम के प्रति कहा गया उक्त उपालंभ यद्यपि सीता के प्रति सहानुभूति प्रदायक है परन्तु सीता का हृदय सहनशीलता से सम्पन्न होने के कारण वे वासन्ती को कह उठती हैं कि - **त्वमेव सखि वासनित। दारूणा कठोरा च यैवमपार्यपुत्रं प्रदीप्तं प्रदीपयसि।।**[19] अर्थात हे सखी वासन्ती! तुम्हीं दारूण और कठोर हो श्रीराम नहीं। तुम्हीं संतप्त हृदयी आर्यपुत्र श्री राम को और अधिक संतप्त कर रही हो। यहां पर सीता के हृदय में अपने दुख से अधिक अपने पति श्रीराम के दुःख की चिन्ता व्यक्त की गई है। श्रीराम के दुःख के समक्ष सीता का दुःख सीता के लिये प्रभावहीन हो गया है। यह सीता के उत्कृष्ट सहनशीलता का परिचायक है।

ममता - ममता स्त्री का एक स्वाभाविक धर्म होती हैं। अपने संतति, पशु, पक्षी, परिवार, समाज एवं राष्ट्र संबंधित विभिन्न जागतिक वस्तुओं के प्रति गहन सहानुभूति रखते हुए उसके निमित्त कुछ सकारात्मक सहयोग करने की प्रवृत्ति ही ममता कहलाती है। उत्तररामचरित के विभिन्न स्थलों पर स्त्री पात्रों में सन्निहित ममत्व भाव के दर्शन होते हैं। नाटक के तृतीय अंक में सीता के द्वारा पूर्व में पालित गजशावक के प्रति सीता का ममतापूर्ण व्यवहार सीता के ममत्व को अभिव्यक्त करता है। वनवास काल में गजशावक सीता के द्वारा सल्लकी के पल्लव के अग्रभाग कोखिलाकर अतीव ममता के साथ पाला पोसा गया था। सीता उसे पुत्रवत स्नेह देती हैं।

सीता देव्या स्वकरकलितैः सल्लकीपल्लवाग्रै-

रग्रे लोलः कटिकलभको यः पुरावर्धितोऽभूत।[20]

उत्तररामरित के चतुर्थ अंक में वाल्मीकि के आश्रम में अपने पौत्र लव और कुश को देखकर माता कौशल्या का हृदय ममता से भर जाता है और उन्हें अपनी गोद में उठाती हुई कहती है - **प्रेक्षे तावन्ते मुखपुण्डरीकम्।**[21]

गाम्भीर्य - गंभीरता स्त्री का अत्यंत महत्तवपूर्ण और शोभनीय गुण होता है। गंभीरता के कारण स्त्री परिवार और समाज में सम्मान को प्राप्त करती है। भवभूति ने अपने नाटक महावीरचरित में स्त्री के इसी गुण को रावण की पत्नी मंदोदरी के माध्यम से प्रस्तुत कराया है। मंदोदरी राम के गुण श्रवण के प्रभाव से राम के शक्ति संपन्न होने का अनुभव करती है तथा समुद्र पर सेतु निर्माण के समय श्रीराम के वीर बानर नल-नील के हाथों से समुद्र के जल पर रखे जाते हुये पत्थरों के टुकड़ों के तैरने की सूचना जब मंदोदरी तक पहुंचती है तब वह अत्याधिक चिंतित हो जाती है। राम के इस पराक्रम से चिन्तित होकर वह अपने पति रावण को राम से सतर्क एवं सजग रहने की सलाह देती है और कहती है -

महाराज ! अवधारय किमप्यन्यादृशी

रचना कस्यापि वलीमुखस्य हस्तपुण्यतः उपर्येव

तिष्ठन्ति तं महीधरा जल इति।[22]

अर्थात हे महाराज विचार कर लीजिये, यह श्रीराम और उनकी सेना कुछ अन्य प्रकार की ही सेना है क्योकि किसी वानर के पूर्व पुण्य से पर्वत खण्ड भी पानी पर तैरते हों यह आश्चर्यजनक तथ्य है। यद्यपि रावण मंदोदरी के इस संकेत को अनसुना कर देता है परन्तु रावण के आसन्न संकट के प्रति पत्नी मंदोदरी की अत्याधिक गंभीर चिंता उसको अत्याधिक गंभीरता पूर्ण स्त्री के रूप में प्रस्तुत करता है। यहां स्त्री के गाम्भीर्य भाव का सुन्दर विवेचन दिखाई देता है।

इस प्रकार भवभूति की नाटय कृतियों में स्त्री के विविध भावनात्मक पक्षों का सविस्तार एवं सुमधुर विवेचन दृष्टिगोचर होता है। भवभूति ने अपने नाटकों में स्त्री के इन भावनात्मक पक्षों के उदारतापूर्ण विवेचन के माध्यम से स्त्री जाति के प्रति अपने हृदय में सन्निहित बड़े आदरभाव को प्रकट किया है। यही कारण है कि भवभूति की नाटय कृतियां लोक में स्त्री पुरुष उभयजन के मध्य अत्याधिक स्पृहणीयता को प्राप्त हैं।

संदर्भ -

1. *ऐतरेय ब्राह्मण, 7/3/13*
2. *वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड 30/18.1*
3. *वाल्मीकि रामायण, आयोध्या काण्ड 63/15.2*
4. *महाभारत, वनपर्व 297/53*
5. *दुःखी भारत, पृ. 167*
6. *उत्तररामचरित 1/41.1*
7. *उत्तररामचरित, प्रथम अंक पृ. 74*
8. *उत्तररामचरित 1/20*
9. *मालतीमाधव, 3/61*
10. *मालतीमाधव, 1/22*
11. *उत्तररामचरित प्रथम, अंक पृ. 35*
12. *उत्तररामचरित, तृतीय अंक पृ. 138*
13. *उत्तररामचरित, प्रथम अंक, पृ. 56*
14. *उत्तररामचरित, प्रथम अंक, पृ. 118*
15. *उत्तररामचरित, प्रथम अंक, पृ. 19*
16. *उत्तररामचरित 3/7*
17. *उत्तररामचरित, 3/4*
18. *उत्तररामचरित 3/27*
19. *उत्तररामचरित पृ. 190*
20. *उत्तररामचरित 3/6*
21. *उत्तररामचरित चतुर्थ अंक पृ. 209*
22. *महावीरचरित, षष्ठ अंक. पृ. 260*

24

कालिदास कृत नाटकों में चारित्रिक शिक्षा : वर्तमान प्रासंगिकता

वर्षा खण्डेलवाल

संस्कृत साहित्य में नैतिक शिक्षा का स्थान सर्वोपरि है। संस्कृत साहित्य में भी संस्कृत नाटकों में चारित्रिक शिक्षा का रूप खुलकर सामने आया है। किसी भी देश या सभ्यता में शिक्षा मानव की बुनियादी आवश्यकताओं व गतिविधियों का केन्द्र मानी जा सकती है। शिक्षा सामाजिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण साधन है। संस्कृत नाटकों के गहन अध्ययन से पता चलता है कि शिक्षा का अर्थ शिष्यों अथवा विद्यार्थियों को केवल विषय का ज्ञान कराना मात्र नहीं है, वरन् उनके चरित्र का विकास करना अर्थात् उनमें ऐसी आदतों और ऐसे स्वभाव का विकास करना होता है, जिससे वे व्यक्ति भली भांति अपने भविष्य का सुनिर्माण कर सके। संस्कृत नाटकों में चरित्र के आधार पर नाटकों के नाम भी रखे गये हैं, यथा- उत्तररामचरितम्, महावीरचरितम्, विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रम्, कर्णमारम् इत्यादि। इससे यह सिद्ध होता है कि संस्कृत नाटकों के कवि चरित्र को प्रधान मानते थे। महाकवि कालिदास के नाटकों में प्रायः स्त्री-पुरुषों को शिक्षा की पूरी स्वतंत्रता थी। मालविकाग्निमित्रम् के अनुसार गुरूजन की तुष्टि के द्वारा ही शिष्य की शिक्षा सफल मानी जाती है -

''यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला।।
पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।।''[1]

ISSN : 2229-5550, UGC Care List Journal, S.N.17

अर्थात् जो-जो भाव या विषय गुरू अपने शिष्य को सिखलाता है, शिष्य उसे पूर्णरूपेण विद्वता से सीखे मानो वह अपने गुरू को सिखा रहा हो। इससे सिखाने वाले की कला उत्तम शिष्य के पास पहुँचकर उस प्रकार विकसित हो जाती है जैसे बादल का जल समुद्र की सीपों में पहुँचकर मोती बन जाता है। यहाँ गुरू अपनी शिष्या मालविका को सत्पात्र मानता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुये कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में लिखा है - **''क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति।''**[2] महाकवि भवभूति ने भी इसी भाव को ''उत्तररामचरित'' नाटक में व्यक्त किया है -

वितरति गुरूः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे,
न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति च पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा,
प्रभवति शुचिर्बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदां चयः।।''[3]

महाकवि कालिदास मानवीय भावनाओं से अभिभूत, संचेतना, करूणा, संवेदना आदि उत्तम चारित्रिक विशेषताओं से युक्त कवि थे। इन्होनें चरित्र को नैतिकता के आधार पर बहुत ही उज्ज्वल रूप प्रदान किया है। कालिदास ने राजन्यवर्ग का वर्णन भले ही अपने नाटकों में किया है, पर सामान्य वर्ग भी उससे अछूता नहीं रहा है। उन्होनें शिक्षा का मुख्य उद्देश्य चरित्र निर्माण के विकास पर बल दिया है। महाकवि कालिदास ने अपने तीनों नाटकों- विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में तत्कालीन चारित्रिक विशेषताओं का विवेचन उचितानुचित निर्णय व्यवहार के आधार पर किया है। ग्रन्थकार का प्रयत्न तो यह रहता है कि वह जिस समय के सन्दर्भ में अपनी रचना करता है, उसी समय की सामाजिक अवस्था का चित्रण करे, किन्तु लेखक के समय की अवस्था का वर्णन भी उसमें झलक ही जाता है। अतः कालिदास ने अपने नाटकों के साथ-साथ अपने समय की घटनाओं व सामाजिक अवस्थाओं का चित्रण किया है।

कालिदास के नाटकों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि उस समय राजा लोग बहुविवाह करते थे। राजाओं द्वारा बहुविवाह किये जाने पर भी स्त्रियाँ अपने पति के प्रति पूर्ण सम्मान भाव रखती थी। बहुविवाह प्रथा को प्राचीन भारतीय संस्कृति में बुरी दृष्टि से नहीं देखा गया। राजा भी सभी स्त्रियों को सम्मान भाव से रखता था। इससे तत्कालीन राजाओं के उत्तम चरित्र का ज्ञान होता है।

कालिदास के नाटकों में राजन्यवर्ग भले ही बहुविवाह में विश्वास रखता हो और उसे जीवन के लिये आवश्यक मानता हो, किन्तु उनके चरित्र में अनैतिकता व अपवित्रता कभी नहीं आने पाई। उन राजाओं ने कभी पर परस्त्री से संबंध नहीं रखा और न ही कभी इसकी इच्छा व्यक्त की। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त जितेन्द्रियजनों की मनोवृत्ति को सदैव परस्त्री के सम्पर्क से विमुख बताते हुये कहता है -

''कुमुदान्न्येव शशांकः सविता बोधयति पंकजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः।।''[4]

मालविकाग्निमित्रम् में राजा अग्निमित्र अपनी द्वितीय पत्नी इरावती के क्रुद्ध हो जाने पर उसे सम्मानजनक प्रकार से मनाते हुये मालविका से उत्पन्न त्रस को दूर करते हैं -

''अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि।
वर्द्धयसि-विलसितं त्वं दासजनायाद्य कुप्यसि च।।''[5]

विक्रमोर्वशीयम् नाटक में उर्वशी के भोजपत्र से देवी औशीनरी के क्रुद्ध होने पर राजा पुरूरवा स्वयं को सेवक बताते हुये उन्हें प्रसन्न करते हुये कहते हैं -

''अपराधी नामाहं प्रसीद रम्भोरू विरम संरम्भात्।
सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः।।''[6]

इस प्रकार राजा वर्ग अपनी सभी पत्नियों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। स्त्रियाँ भी राजा की सेवा मन लगाकर करती थी। उनका सपत्नी आदि के प्रति भी परस्पर संबंध ईर्ष्या द्वेष से रहित होता था। मालविकाग्निमित्र्म् में इरावती रानी धारिणी का पूर्ण सम्मान करती थी। वह अपनी प्रत्येक शिकायत रानी धारिणी से करती थी और रानी धारिणी उसका मान रखती हुई उसकी इच्छा को भी पूर्ण करती थी। इस नाटक में कहा भी गया है कि साध्वी ललनाएँ अपनी सपत्नी के द्वारा भी पति की प्रसन्नता सम्पादन करती ही है अर्थात् रानी धारिणी मालविका का परिणय राजा से करा देती है -

''प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम्।।''[7]

कालिदास के नाटकों में बहुविवाह प्रथा में आपसी सामंजस्य ही उत्तम

चारित्रिक शिक्षा की पराकाष्ठा है। रानियाँ भी अपनी सपत्नियों के प्रति उत्तम चरित्र को धारण करती थी। वर्तमान में ऐसी चारित्रिक विशेषता आवश्यक है। यद्यपि अभी एकविवाह प्रणाली प्रचलित है, फिर भी ईर्ष्या-द्वेष बहुत ज्यादा व्यापक स्तर पर है। आपसी प्रेम की कमी है, विवाह-विच्छेद बढ़ रहे हैं। उस समय चरित्र प्रधान शिक्षा थी, वर्तमान में शिक्षा केवल रोजगार का साधन रह गई है। अतः चारित्रिक शिक्षा के विकास की अत्यन्त आवश्यकता है। कालिदास के नाटकों में तात्कालिक राजा लोग धर्म को पूर्ण महत्व देते थे। यही कारण है कि उस समय ऋषियों, ब्राह्मणों, मुनियों आदि का बड़ा सम्मान था। यह बातें उनकी शिक्षा का ही एक रूप था। उस समय सनातन धर्म अपने चरम उत्कर्ष पर था। यज्ञादि कार्यों के प्रति जनता का पूर्ण विश्वास था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में ऋषि कण्व का आश्रम इसका सटीक उदाहरण है। यहाँ कवि ने मानवीय संवेदनाओं को बहुत ही सुन्दर तरीके से स्पष्ट किया है। राजन्य वर्ग का ही यह उत्तरदायित्व था कि आश्रम की सभी क्रियायें विघ्नरहित हो, ऐसा वे सदैव प्रयत्न करते रहे। राजा दुष्यन्त के आखेट के कारण वन में आने पर उत्कृष्ट तपस्वियों की सभी विघ्न रहित यज्ञानुष्ठानादि क्रियाओं के लिये कहा गया है -

''रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद् भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति।।''[8]

यज्ञादि कर्म बड़े महत्व के साथ सम्पन्न किये जाते थे। यज्ञादि क्रियाओं के कुछ नियम भी होते थे, जिनका तपस्वीगण नियमशः पालन करते थे और राजा उनकी रक्षा का विधान करते थे। यथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सायंकालीन यज्ञ कर्म का व राक्षसों की परछाइयों का राजा दुष्यन्त बहुत सुन्दर वर्णन करते हैं -

''सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः सन्ध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्।।''[9]

महर्षि कण्व अपने आश्रम के कुलपति व नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। उनके आश्रम में सदैव यज्ञ-होम आदि का कार्य चलता रहता था। ब्रह्मचारी होते हुये भी त्याग और औदार्य उनके व्यावहारिक जीवन में सदैव दृष्टिगत होते रहते हैं। उनके समय में महिला तपस्वियों का भी बड़ा सम्मान रहा है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में आदरणीया गौतमी कण्व के आश्रम में रहने वाली वृद्धा तपस्विनी है और नाटक में

यह किसी महिला छात्रावास की अधीक्षक सी प्रतीत होती है। नायिका शकुन्तला उसे अपनी माँ के समान समझती है। गौतमी एक माँ के समान शकुन्तला को शिष्टाचार का निर्वाह करने की सीख देती है। शकुन्तला के प्रस्थान के समय वन देवताओं द्वारा आशीर्वाद एवं जाने की अनुमति दिये जाने पर उसे अभिमत भाग्य हेतु देवताओं को प्रणाम करने के लिये कहती है - **''गौतमी-जाते! ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवन देवताभिः। प्रणम भगवतीः।''** यह सारी कथा चारित्रिक शिक्षा का ही एक रूप है। शकुन्तला को आश्रम में अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई, जिससे उसका उज्ज्वल चरित्र सामने उभरकर आया है। राजा दुष्यन्त भी आश्रमवासियों के प्रति बहुत ही उदार व रक्षक का भाव रखते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनकी शिक्षा अच्छे वातावरण में व सही रूप से हुई। संस्कृत नाटकों में सर्वधर्मसमभाव की भावना व्यक्त हुई है। तत्कालीन समाज में भिक्षुओं का सम्मान था। यदि ऐसा न होता, तो परिव्राजिका को कभी राज्याश्रय नहीं मिलता। राजा अग्निमित्र ने परिव्राजिका को न केवल आश्रय ही दिया, अपितु उससे अपने प्रतिदिन के महत्वपूर्ण कार्यों के संबंध में विचार-विमर्श भी करता है। बौद्ध धर्मावलम्बिनी परिव्राजिका का सम्मान महाराज अग्निमित्र के अन्तःपुर में इतना अधिक व्याप्त हो चुका था कि रानी धारिणी भी परिव्राजिका के वचनों को नहीं टाल सकती है, प्रत्युत उसका पूर्णरूपेण समादर ही किया करती है। वह मालविका का विवाह अग्निमित्र से कराने के लिये परिव्राजिका की अनुमति लेती है-

''धारिणी - भगवति, त्वयानुगतेच्छाम्यार्थसुमतिना प्रथमसंकल्पितां मालविकामार्यपुत्रय प्रतिपादयितुम्।''[10] राजा अग्निमित्र सन्यासिनी वेशवाली कौशिकी के साथ रानी धारिणी में अध्यात्मविद्या के साथ शरीरधारिणी वेदमयी की कल्पना करता है -

''मंगलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया।
त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया।।''[11]

आचार्य गणदत्त और हरदत्त के पारस्परिक कलह का निर्णय भी परिव्राजिका करती है। दोनों आचार्य परिव्राजिका के कथन को मान्य मानते हैं। परिव्राजिका मालविका के नृत्य कला को बहुत ही सूक्ष्म रूप से वर्णित करती है -

''अंगैरन्तर्निहितवचनः सूचितः सम्यगर्थः पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव।।''[12]

विक्रमोर्वशीयम् नाटक में भी उर्वशी अपने पुत्र को तापसी के पास धरोहर रूप में रख देती है ताकि पुत्र को उच्च चारित्रिक विशेषताओं वाले व्यक्ति के पास से उत्तम चारित्रिक शिक्षा प्राप्त हो सके। क्षत्रियकुमार के समस्त जातकर्म संस्कार ऋषि च्यवन द्वारा सम्पादित होते हैं। वह अपनी समस्त विद्यायें और धनुर्वेद आश्रम में ही सीखता है, जैसा कि उस समय प्रचलित था। एक संतुलित वातावरण ही उत्तम नैतिक शिक्षा का पात्र बनाता है। राजा पुरूरवा ऋषि च्यवन के आश्रम से विद्या ग्रहण कर आये हुये पुत्र को पाकर स्वयं को इन्द्र के समान श्रेष्ठ समझते हैं -

''अयं हि पुत्रिणामग्र्यः सत्पुत्रेणामुना तव।
पौलोमीसभवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः।।''[13]

इस प्रकार तत्कालीन वातावरण में ऋषियों, मुनियों, परिव्राजकों को उत्तम चरित्र होने के कारण अत्यधिक सम्मान प्राप्त था। यह भी शिक्षा का प्रमुख विषय था कि व्यक्ति के चरित्र में अनैतिकता नहीं आने पाये। इससे समाज में सुदृढ़ता आती है। वर्तमान में शिक्षा का स्वरूप बदल गया है। परिव्राजकों को बडे घरानों में स्थान देना अच्छा नहीं माना जाता है। व्यक्ति ने शिक्षा को संकुचित कर दिया है। अब केवल अपने विषय-विशेष पर निर्भर रहना व्यक्ति पसंद करता है। बड़े लोगों का सम्मान अब व्यापक स्तर न होकर संकुचित हो गया है। समाज में उत्तम चरित्र वाले लोगों का सम्मान आवश्यक है, जिससे भविष्य में बच्चे भी उनके गुणों को अपना सके। कालिदास के समय में और वर्तमान में उत्तम चारित्रिक शिक्षा आवश्यक मानी गई है। चरित्र व व्यक्तित्व को निखारने के लिये उच्च आदर्श, आदर्श का प्रस्तुतीकरण, संतुलित वातावरण का निर्माण, अच्छी आदतों का विकास, स्वाभिमान का निर्माण, स्थायीभावों का सुदृढ़ निर्माण- इनकी आवश्यकता होती है। कालिदास कृत नाटकों में प्रायः चारित्रिक शिक्षा के ये सभी गुण मिल जाते हैं। इनके नाटकों के नायक दुष्यन्त, अग्निमित्र व पुरूरवा उच्च आदर्श के धनी थे। वे अपने पुत्रों को उत्तम चरित्रवान बनाना चाहते थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में जब राजा दुष्यन्त मारीच ऋषि के आश्रम में निर्मल वृत्ति वाले सर्वदमन बालक को देखते हैं, तो वे स्वच्छ मन वाले ऐसे पुत्रों को गोद में धारण वालों को सौभाग्यशाली मानते हैं -**''आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै रव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।**
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो, धन्यास्तदंगरजसा मलिनी भवन्ति।।''[14]

बालकों का मन कपट रहित व कोमल होता है, उनमें प्रारम्भ से नैतिकता के गुण सिखा दिये जाये तो वे उत्तम पुरूष बन सकते हैं। यहाँ दुष्यन्त बिना करण ही हँसने से जिसकी दन्तकलियाँ दिख रही है, अस्पष्ट वर्णोच्चारण से जिसका बोलना मनोरम लगता है, ऐसे स्वच्छ वृत्ति वाले बालकों की शरीर की धूलि से सौभाग्यशाली लोगों को मलिन होना बताना चाहते हैं। राजा दुष्यन्त को जब ज्ञात होता है कि सर्वदमन उनका ही पुत्र है, तो वे सद्गुणी पुत्र को पाकर स्वयं को धन्य समझते हैं -

''दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम्।।''[15]

अर्थात् यह सच्चरित्र शकुन्तला, सद्गुणी पुत्र और आप (मारीच ऋषि) सौभाग्य से श्रद्धा, धन और विधि ये तीनों ही एक स्थान पर मिल गये हैं। चूंकि सर्वदमन की प्रारम्भिक शिक्षा ऋषि मारीच के आश्रम में हुई थी। उसमें उत्तम चारित्रिक गुण विद्यमान थे। इसी कारण ऋषि राजा दुष्यन्त की तुलना इन्द्र से करते हुये सर्वदमन को इन्द्रसुत जयन्त के सदृश बताते हैं तथा शकुन्तला को इन्द्राणि के समान बनने का आशीर्वाद देते हैं -

''आखण्डसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव।।''[16]

विक्रमोर्वशीयम् त्रेटक में भी पुरूरवा के पुत्र की प्रारम्भिक शिक्षा ऋषि के आश्रम में ही हुई थी। पुरूरवा का पुत्र आयुष् भी उत्तम चारित्रिक शिक्षा से युक्त था। आयुष् के बाण पर उर्वशी से उत्पन्न पुरूरवा का पुत्र शत्रुओं की आयु को हरण करने वाले धनुष धारण करने वाले कुमार आयुष का बाण अंकित था -

''उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुर्भृतः।
कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्तुद्विषदायुषाम्।।''[17]

आयुष अपने पिता से अनभिज्ञ रहते हुये ऋषि च्यवन के आश्रम में पला-बढ़ा था। जब वह प्रथम बार अपने पिता अर्थात् राजा पुरूरवा से मिलता है, तो वह अपने हृदय में उत्पन्न अत्यधिक प्रेम को महसूस करता है तथा सोचता है कि जो बालक अपने पिता के साथ ही रहते होंगे, उनका अपने पिता से प्रेम कितना अधिक होगा -

''यदि हार्द्रमिदं श्रुत्वा पिता ममायं सुतोऽहमस्येति।
उत्संगवर्धितानां गुरुषु भवेत् कीदृशः स्नेहः।।''[18]

वर्तमान में पिता-पुत्र में इसी प्रकार के प्रेम की आवश्यकता है। आज जो परिवार विच्छेद हो रहे हैं, उसमें शिक्षा का नैतिकता से हटकर केवल रोजगारोन्मुख होना है। कालिदास कृत नाटकों में पिता-पुत्र का स्नेह उच्च चारित्रिक शिक्षा का परिचायक है। राजा पुरूरवा पुत्र के स्पर्श को शरीर के अंगों के लिये सुखकारी बताते हुये उसी प्रकार आनन्दित करने वाला बताते हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा की किरण चन्द्रकान्त मणि को आह्लादित करती है -

''सर्वांगीणः स्पर्श सुतस्य किल तेन मामुपगतेन।
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव।।''[19]

मालविकाग्निमित्रम् में भी रानी धारिणी उत्तम पुत्र वसुमित्र को प्राप्त कर स्वयं को सौभाग्यशाली समझती है। अग्निमित्र के पिता पुष्यमित्र ने, जो उन दिनों अश्वमेघ यज्ञ में दीक्षित थे, दूत के साथ एक पत्र भेजा, जिसमें यह सूचना थी कि ''कुमार वसुमित्र ने यज्ञ के अश्व की रक्षा में बडी वीरता दिखाई है। समुद्र के किनारे यवन सैनिकों ने उस अश्व को घेर लिया था, किन्तु धनुर्धर वसुमित्र ने उन सबको परास्त कर यज्ञ को निर्विघ्न बना दिया है। आप सपरिवार यज्ञ में सम्मिलित हों।'' पुत्र-विजय-वार्ता से रानी को बड़ा आनन्द हुआ। परिव्राजिका कौशिकी रानी धारिणी को स्वामी अग्निमित्र के कारण पत्नी समुदाय में अग्रगण्य प्रमाणित करती है तथा पुत्र वसुमित्र के कारण वीरजननी का गौरव मानती है -

''भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः।।''[20]

माता-पिता के उत्तम शिक्षा व चारित्रिक गुणों से युक्त होने पर सन्तान में भी उनकी झलक आ ही जाती है। इसी बात का समर्थन करते हुये मालविकाग्निमित्र में कहा गया है कि कुमार वसुमित्र की इतनी वीरता से कोई महान् आश्रय उत्पन्न नहीं हो रहा है, क्योंकि इसके जन्मदाता स्वयं अग्निमित्र जैसे बड़े अजेय वीर हैं, जैसे बड़वानल के जन्मदाता और्व ऋषि थे -

''नतावता वीरविजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां दग्धुरिवोरूजन्मा।।''[21]

यह एक अच्छे आदर्श का प्रस्तुतीकरण है, सन्तुलित वातावरण का निर्माण है। जब एक अच्छा आदर्श हमारे सामने उपस्थित होता है, तो हम भी स्वयं को उसके समान बनाना चाहते हैं। इन नाटकों में राजा को इन्द्र के समान बताया गया है व उनके पुत्रों को जयन्त के समान बताया गया है। प्रारम्भिक शिक्षा स्थायी भावों का सुदृढ़ निर्माण कर सकती है। यही भाव उत्तम मानव के निर्माण में सहयोग प्रदान करती है। कालिदास ने सभी नाटकों में चारित्रिक शिक्षा के गुण पिरोए हैं। एक अच्छा शिक्षक वही होता है, जो शिष्यों को सिखाने में कुछ त्रुटि न करे व बिना पक्षपात के शिक्षा प्रदान करे। कालिदास के तीनों नाटकों में पक्षपात रहित शिक्षा का ही विवेचन हुआ है। शिक्षा को बहुत ही आवश्यक व चरित्र प्रधान माना जाता था, गुरूजनों का सम्मान भी व्यापक स्तर था। उन्होंने शिक्षा को एक आदर्श रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। मालविकाग्निमित्रम् में कहा गया है - जिस प्रकार आग में डालने से सोना काला नहीं पड़ता, वैसे ही जिस शिक्षक के सिखाने में किसी प्रकार की गलती न हो, उसे ही सच्ची शिक्षा कहते हैं -

''उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः कांचनमिवग्निषु।।''[22]

ऋषि कण्व ने शकुन्तला को चारित्रिक शिक्षा के सभी गुण समय-समय पर सिखाये थे। शकुन्तला वन के तरुओं से अत्यधिक स्नेह रखती थी। जब वह अपने धर्मपिता कण्व के यहाँ से विदा हो रही थी, तब स्वयं ऋषि कण्व तपोवन के वृक्षों को संबोधित करते हुये कहते हैं -

''पातु न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वेरनुज्ञायताम्।।''[23]

अर्थात् जो शकुन्तला वृक्षों को जल पिलाये बिना पहले स्वयं जल पीने का प्रयत्न नहीं करती थी। अलंकरणप्रिया हाने पर भी, आप लोगों के प्रति स्नेह होने के कारण जो पत्ते नहीं तोड़ती थी। प्रथम पुष्प निकलने के अवसर पर जिसका उत्सव होता था, वहीं यह शकुन्तला पतिगृह जा रही है, आप सब आज्ञा दीजिए। यहाँ प्रकृति के प्रति मानव का कर्तव्य व्याजित किया गया है। मानव बुद्धिजीवी है, उसे

यदि अपना कल्याण चाहिये तो जरूरी है कि वह प्रकृति के प्रति मानवीय दृष्टि रखे। यह प्रकृति का मानवीकरण ही नहीं अपितु कवि की कालजयी-विश्व बन्धुत्व की भावना है और उसे जिस सहजता से व्यंजित किया है वह संवेदना सर्वथा समवेतरूपेण वरेण्य है। जब शकुन्तला के विदा होने का समय आ गया था तब ऋषि कण्व की चारित्रिक स्थिति बहुत ही मार्मिक रूप से अभिव्यक्त होती है। उनका हृदय दुःख से भर जाता है, अश्रु प्रवाह से गला रुंध जाता है। वे कहते हैं कि शकुन्तला के प्रति स्नेह के कारण यदि ऐसी बेचैनी है, तो गृहस्थ लोग पुत्री के वियोग से अत्यन्त दुःखित होते ही होंगे -

''यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्ति कलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः।।''[24]

प्रस्तुत श्लोक केवल करुणा के कारण ही विशिष्ट नहीं है, बल्कि इसमें मानवीय यथार्थ को पूरी गंभीरता से रूपायित किया है। यहाँ मानवीय चरित्र का उत्थान दृष्टिगोचर हुआ है। महाकवि कालिदास ने अपने नाटकों में चरित्र को बहुत ऊँचा उठा दिया है। विद्याओं का अध्ययन उत्तम चरित्र के लिये ही किया जाता था। महाराज अग्निमित्र के समय में वेद, कामशास्त्र, राजनीति शास्त्र और ललित कलाओं के साथ अन्य विद्याओं का अध्ययन किया जाता था, परन्तु इन विद्याओं का अध्ययन ज्ञान-वर्द्धन के लिए ही उचित माना जाता था, आजीविका कमाने के लिये नहीं। इस सम्बन्ध में संगीतज्ञ गणदास के विचार अत्यन्त उत्कृष्ट है -

''लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।।''[25]

अर्थात् जो लोग अध्यापक का पद प्राप्त कर लेने पर शास्त्रार्थ करने से भागते हैं, दूसरों की की गई निन्दा को सहन कर लेते हैं और केवल पेट पालने के लिये विद्या पढ़ाते हैं। ऐसे लोग पण्डित नहीं वरन् ज्ञान बेचने वाले बनिया हैं। कहने का तात्पर्य है कि शिक्षा ज्ञानवर्धन के लिये ही होती है, यही उसका परम लक्ष्य होना चाहिये। कालिदास कृत नाटकों में चारित्रिक शिक्षा का उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर हुआ है। यदि वर्तमान में समकालिक शिक्षा के आधार पर चरित्र को प्रधान रूप में

रखा जाये तो समाज का दृश्य बहुत ही सुन्दर व सहज होगा। वस्तुतः वर्तमान में शिक्षा आजीविका मात्र ही रह गई है और उसका परम लक्ष्य चरित्र निर्माण केवल सैद्धान्तिक ही रह गया है। इसलिये चारित्रिक शिक्षा का स्तर लगातार गिर रहा है। एक सुदृढ़ समाज, देश, स्थान का विकास तभी हो सकता है, जब व्यक्तियों में यथार्थता हो, आपसी सम्मान की भावना हो, एकता हो। ये सभी बातें कालिदास के नाटकों में झलकती है। यदि वास्तव में ऐसा वातावरण वर्तमान में हो जाये, तो एक चरित्र प्रधान समाज की कल्पना कर सकते हैं। शिक्षक भी ऐसे हो, जो अपने गुणों को दूसरों को सिखाने में चतुर हों और उत्तम चरित्र की शिक्षा दे सकें। 'मालविकाग्निमित्रम्' में कहा गया है कि कोई विद्वान् ऐसे होते हैं, जो अपने गुण को अपने आप भली-भांति जानते हैं। कुछ ऐसे विद्वान् होते हैं जो अपने गुण दूसरों को सिखाने में चतुर होते हैं। पर सच्चा गुणी वही है, जिसमें ये दोनों बातें हों और ऐसा ही शिक्षक प्रतिष्ठा योग्य होता है -

''श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।।''[26]

अपनी कला को पूरी सत्यनिष्ठा व कर्तव्य के साथ सिखाने वाला ही सच्चा गुरू होता है। वर्तमान में ऐसे गुरू की ही आवश्यकता है। भारतीय संस्कृति में इसी आधार पर ''गुरूर्देवो भवः'' उक्ति प्रसिद्ध हुई है। प्राचीन समय में गुरूजनों का सम्मान, देश के प्रति राष्ट्रवाद की भावना, कल्याण की भावना, कर्तव्यनिष्ठा, मानवीयता आदि भाव प्रमुख थे, इसलिये समकालीन समाज में स्वच्छवृत्ति की भावना देखने को मिलती है। वर्तमान समाज में इन भावनाओं ने संकीर्ण रूप धारण कर लिया है। इन भावों में व्यापकता को लाना अत्यावश्यक है। वर्तमान में समाज में स्वार्थवृत्ति ने अपनी गहरी पेंठ बना ली है, कल्याण की भावना अत्यन्त संकीर्ण है। यदि शिक्षा का परम लक्ष्य चरित्र निर्माण को वास्तविकता में ही लाया जाये तो ही चारित्रिक शिक्षा का विकास हो सकता है। चारित्रिक शिक्षा ही शिक्षा का एक ऐसा रूप है, जिससे उन्नत देश का सपना साकार हो सकता है। वर्तमान में स्वार्थवृत्ति को छोड़कर विश्वबन्धुत्व की भावना की आवश्यकता है। भारतीय संस्कृति में ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की धारणा का अभिप्राय उत्तम भावना से व्याप्त है। अतः कालिदास कृत नाटकों में वर्णित शिक्षा वर्तमान में प्रासंगिक है, क्योंकि उत्तम राष्ट्र के निर्माण में चरित्र प्रधान शिक्षा अनिवार्य है।

संदर्भ -

1. *मालविकाग्निमित्रम् 1/5-6*
2. *रघुवंश 3/19*
3. *उत्तररामचरितम् 2/4*
4. *कालिदास 5/28*
5. *मालविकाग्निमित्रम् 3/22*
6. *विक्रमोर्वशीयम् 2/20*
7. *मालविकाग्निमित्रम् 5/19*
8. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/12*
9. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 3/24*
10. *मालविकाग्निमित्रम् पंचम अंक*
11. *मालविकाग्निमित्रम् 1/14*
12. *मालविकाग्निमित्रम् 2/8*
13. *विक्रमोर्वशीयम् 5/14*
14. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7/17*
15. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7/29*
16. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7/28*
17. *विक्रमोर्वशीयम् 5/7*
18. *विक्रमोर्वशीयम् 5/10*
19. *विक्रमोर्वशीयम् 5/11*
20. *मालविकाग्निमित्रम् 5/16*
21. *मालविकाग्निमित्रम् 5/17*
22. *मालविकाग्निमित्रम् 2/9*
23. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/9*
24. *अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/6*
25. *मालविकाग्निमित्रम् 1/17*
26. *मालविकाग्निमित्रम् 1/16*

25

संस्कृत नाट्य-परंपरा का भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य पर प्रभाव

आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

हिंदी नाट्य साहित्य की विकास यात्रा के आरंभिक चरण भारतेंदु युग में रचित नाटकों पर संस्कृत नाट्यशास्त्र, रंग-चेतना, संस्कृत-रंगकर्म और विभिन्न संस्कृत नाट्य कृतियों की प्रेरणा और प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनका युग आधुनिक हिंदी गद्य का उद्‌भव काल है। इस काल में उपन्यास, कहानियां, निबंध, आलोचना और नाट्य लेखन की विधिवत् शुरुआत हुई। भारतेन्दु और उनके युग के अनेक लेखकों ने संस्कृत के कई महत्त्वपूर्ण और समसामयिक संदर्भ में प्रासंगिक नाटकों की कथावस्तु, चरित्र और मूल संवेदना से प्रभावित होकर हिंदी में अच्छे नाटक लिखे और अनुवाद भी किये। इस युग के लेखकों ने आधुनिक हिंदी नाटक के लिए एक उर्वर जमीन तैयार किया जो संस्कृत नाटकों की आधारभूमि के बिना संभव नहीं थी। यह समय खड़ी बोली का अंगड़ाई लेने का भी समय है। भारतेन्दुयुगीन काव्य और गद्य लेखन की भाषा हिन्दी के निर्माण में संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य की अहम भूमिका को स्वीकार किया जाता है। भारतेंदु की चंद्रावली नाटिका में सूत्रधार के मुख से इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि ''संस्कृत नाटकों को अपनी भाषा में अनुवाद करके तो हम लोग अनेक बार खेल चुके हैं।''[1] वास्तव में हिंदी के आरंभिक नाटक संस्कृत नाटकों की प्रभाव छाया में ही लिखे गए हैं। यह बात अलग है कि अनुदित हिंदी नाटकों की

प्रेरणा संस्कृत के उत्कृष्ट नाटक न होकर सामान्य कोटि के संस्कृत नाटक हैं। भारतेंदु और उनके युग के कई नाटककारों ने जिन संस्कृत नाटकों के अनुवाद किए वे हिंदी नाट्य लेखन की पृष्ठभूमि मात्र सिद्ध हुए हैं। यह सत्य उद्घाटित है कि हिंदी की मध्ययुगीन नाट्य प्रवृत्तियां भाषा का माध्यम बदल जाने के बावजूद संस्कृत की क्षीण होती हुई नाट्य परंपरा का ही क्रमिक विकास हैं। कृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचंद्रोदयम्' के छह अनुवाद भारतेंदु युग के लेखकों द्वारा किए गए हैं, किंतु उन्हें उत्कृष्ट नाट्य अनुवाद नहीं कहा जा सकता है। दामोदर मिश्र के 'हनुमन्नाटक', भवभूति के 'मालतीमाधव' तथा कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' नाटक के अनुवाद भी इसी युग में हुए। दामोदर मिश्र के मूल संस्कृत नाटक की कथावस्तु तथा चरित्र चित्रण में हृदय राम ने परिवर्तन किए हैं। 1752 में सोमनाथ माथुर ने भवभूति के 'मालतीमाधव' का हिंदी में पद्यानुवाद 'माधव विनोद' के नाम से किया। शाकुंतलम् के तीन अनुवाद प्राप्त होते हैं। उनमें पहला अनुवाद नेवाज कवि का है जो शाहजादा आलम शाह के आदेश से सन 1680 में किया गया था। यह अनुवाद ब्रजभाषा में है। धोंकल मिश्र और राजा लक्ष्मण सिंह ने भी 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का अनुवाद किया। किंतु विद्वानों की दृष्टि में इन तीनों अनुवादों में केवल लक्ष्मण सिंह का ही नाट्यानुवाद मूल नाटक के प्रति न्याय कर सका है।

संस्कृत के जीव गोस्वामी कृत 'विदग्ध माधव' नाटक का ब्रजभाषा में अनुवाद या रूपांतर रूप गोस्वामी ने 'गोविंद हुलास' नाम से किया है। मध्ययुग में संस्कृत नाटकों का पर्याप्त आदर था और आगे चलकर उन्हें हिंदी में अनूदित करने का हिंदी लेखकों ने बराबर प्रयत्न किया। भारतेंदु युग में हिंदी नाटककार संस्कृत नाटकों की ओर आकृष्ट हुए थे। इन अनूदित नाटकों में मूल नाटकों का काव्यकरण करने की चेष्टा परिलक्षित होती है। अनुवादकों का ध्यान प्रायः संस्कृत नाटक की कथावस्तु पर केन्द्रित रहा है। कई अनुवादकों ने प्रस्तावना और पात्रों के प्रवेश तथा निष्क्रमण के संकेतों को हटा दिया है। शाकुंतल नाटक में कहीं-कहीं विष्कंभक और प्रवेशक के संकेत भी नहीं है। भवभूति कृत 'मालतीमाधवम्' का अनुवाद सोमनाथ ने किया है। उपर्युक्त सभी अनूदित नाटकों में अनुवादकों ने

अपनी मौलिक प्रतिभा का भी प्रदर्शन किया है। निश्चय ही संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमों की अनुकूलता प्रभावित हुई है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के पिता गिरिधर दास कृत 'नहुष' नाटक की प्रस्तावना संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना से इस अर्थ में भिन्न है नहुष की प्रस्तावना में नान्दी के पूर्व प्रबंध काव्य की तरह मंगलाचरण को स्थान दिया गया है।
'नांद्यन्ते सूत्रधार' लिखकर संस्कृत नाटकों की तरह ही सूत्रधार का प्रवेश कराया गया है। सूत्रधार के सहायकों-नटी, परिपार्शिवक, भाण आदि की योजना संस्कृत नाट्य पद्धति के अनुसार हुई है। 'नहुष' की रचना संस्कृत नाटक-परंपरा के अनुकूल है। विश्वनाथ सिंह का नाटक 'आनंद रघुनंदन' भारतेंदु युग की सबसे महत्त्वपूर्ण मौलिक कृति है। नाटक में संपूर्ण कथा कह डालने की प्रवृत्ति, समय तथा स्थान के संकलनों की तीव्र उपेक्षा, रामायण से लिया गया ख्यात वृत्त, कवित्तशक्ति, नायिका भेद, पांडित्य-प्रदर्शन की इच्छा, पात्रों की बहुलता, सर्वगुण संपन्न नायक और उस पर इतना ध्यान देना कि शेष पात्र विशेष रूप से प्रतिनायक अत्यंत साधारण प्रतीत हो - यही विशेषताएं इस नाटक को परवर्ती संस्कृत - नाट्यपरंपरा का क्रम- विकास सिद्ध करती हैं। प्रस्तावना, विष्कंभक, सूत्रधार,परिपार्श्विक, विदूषक, नांदी पाठ, आकाशवाणी, नेपथ्य कथन आदि का भी इस नाटक में संस्कृत- नाट्य पद्धति पर होना इस पर संस्कृत नाट्य- परंपरा के वाह्य प्रभाव को रेखांकित करता है।[2] सोमनाथ गुप्त ने इसके लिए 'प्रबोध चंद्रोदय' नाटक वाली संकेत-परंपरा के प्रभाव की भी संभावना व्यक्त किया है। विश्वनाथ सिंह ने कुछ संकेतों को संस्कृत भाषा में दिया है और संस्कृत नाट्यशास्त्र के भाषा प्रयोग संबंधी निर्देशों के मूल में निहित भावना को समझा है। इस नाटक में कुछ संकेत संस्कृत भाषा में दिया गया है। प्रथम अंक से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं- ससंभ्रममुत्थाय कुमारी (स्नात्वा), सहर्ष कुमारौ, ततः प्रविशति त्रेतामल्लः, आकाशे कर्णदत्वा विस्मिता, प्रणम्य गृहीत्वा वाचयति। संकेत संस्कृत भाषा के प्रति विश्वनाथ सिंह के अनुराग का परिचायक है।

'आनंद रघुनंदन' नाटक की रचना संस्कृत नाट्य पद्धति पर हुई है। दरअसल विश्वनाथ सिंह का संस्कृत भाषा के प्रति गहरा अनुराग था। वे संस्कृत

नाट्य साहित्य के गहन अध्येता थे और संस्कृत वांड्मय के प्रति उनमें आदर भाव था। उनके नाट्य चिंतन पर सारे प्रभाव संस्कृत नाट्य परपरा के हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने संस्कृत के पांच नाटकों का हिंदी में अनुवाद किया है। अनूदित नाटक हैं-रत्नावली, पाखंडविडम्बन, धनंजय विजय व्यायोग, मुद्राराक्षस और कर्पूरमंजरी हैं। 'रत्नावली' हर्षवर्धन कृत संस्कृत 'रत्नावली' नाटिका का अनुवाद है। 'रत्नावली' के अनुवाद में भारतेन्दु ने छन्द के स्थान पर छन्द को प्रस्तुत करते हुए यह आग्रह किया है कि उनके अनुवाद का महत्त्व मूल के साथ मिलाकर पढ़ने से पाठक को पता चलेगा। यतीन्द्रमोहन ठाकुर के बांग्ला नाटक की छाया लेकर किया गया 'विद्यासुन्दर' नाटय रचना संस्कृत नाट्य-परम्परा के प्रभाव से युक्त है। कथावस्तु संस्कृत काव्य ग्रन्थ 'चौरपंचाशिका' से ग्रहण की गई है। चरित्रांकन, संवाद, घटनायें, वर्णन साम्यता पर संस्कृत नाट्य शैली का प्रभाव देखा जा सकता है। 'पाखंडविडम्बन' कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चंद्रोदयम' नाटक के तीसरे अंक का अनुवाद है। 'धनंजयविजय व्यायोग' के रचयिता कांचन कवि हैं। यह मूल संस्कत नाटक है। भारतीय भारतेंदु ने नाटक की प्रस्तावना सूत्रधार आदि को भी अनूदित किया है। धनंजय विजय में भारतेंदु ने संस्कृत नाट्य रचना के स्थूल उपादानों का निर्वाह किया है। विशाखदत्त के प्रसिद्ध संस्कृत नाटक 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद उसी नाम से किया गया है। भारतेंदु संस्कृत नाटकों के अनुवाद की कला में पूर्णतः सिद्धहस्त हो चुके थे। उन्होंने मुद्राराक्षस की भूमिका में अनुवाद करते हुए नांदी, सूत्रधार, भरतवाक्य आदि की योजना की है।

'कर्पूरमंजरी' संस्कृत नाटककार राजशेखर का प्राकृत भाषा में लिखित नृत्य प्रधान नाटिका है । सत्य हरिश्चंद्र की भांति चंद्रावली नाटिका में भी भारतेंदु ने संस्कृत नाट्य शास्त्रीय ग्रंथों के नियमों का दृढ़ता से पालन नहीं किया है। 'नीलदेवी' के आरंभ में दुर्गा पाठ के मंत्र दिए गए हैं। संस्कृत के प्रहसन और भाण से प्रभावित होकर भारतेंदु ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी' प्रहसन और 'विषस्य विषमौषधम्' भाण रचा है। उक्त नाट्य रचनाओं के नाम संस्कृत में है और अनेक स्थलों पर संस्कृत की सूक्तियां और श्लोक यथावत् प्रयुक्त किए गए हैं। नाटक में प्रयुक्त हिंदी कहावतें मूल कृति में प्रयुक्त संस्कृत कहावतों से अनूदित की

गई हैं। भारतेंदु ने संस्कृत नाटक में प्रयुक्त भरतवाक्य (विषस्य विषमौषधम्), नांदी पाठ, प्रस्तावना, सूत्रधार, और भरत वाक्य (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति) को ही अनुदित नाटकों में प्रयुक्त किया है। इन अनुदित नाट्य कृतियों में संस्कृत नाट्य तंत्र का अनुसरण किया गया है। भारतेंदु युग के नाटकों में संस्कृत नाटक परंपरा का निर्वाह करते हुए कई नाटककारों की नाट्य रचनाओं में प्रस्तावना, सूत्रधार, नांदी पाठ, भरतवाक्य आदि की योजना की गई है।

भारतेंदु और उनके समकालीन नाटककारों ने नाटक, प्रहसन, व्यायोग, नाटिका, बाण आदि संस्कृत नाट्य रूपों को स्वीकार किया है। भारतेंदु ने संस्कृत नाटकों का अनुवाद करने के साथ ही संस्कृत नाट्य रूपों को भी अपनाया है। यह बात अलग है कि बंगला नाटकों के प्रभाव के कारण उन्होंने संस्कृत नाट्य शैली को हिंदी के लिए कुछ परिवर्तन के साथ अपनाया था, जिस पर बांग्ला नाटक परंपरा का प्रभाव देखा गया है। वस्तुतः भारतेंदु युगीन नाटक के मूल चरित्र को संस्कृत की नाट्यरंपरा की अनुकूलता में ढूंढा जा सकता है। इसके इस मूल चरित्र को संस्कृत नाट्य रूपों के ग्रहण, पाठ, प्रस्तावना, सूत्रधार, विष्कंभक, भाण आदि के उपयोग में ही नहीं, बल्कि कथावस्तु के चयन, उसकी बनावट और पात्र योजना में भी ढूंढा जाना अपेक्षित है। भारतेंदु ने संस्कृत नाट्य रचना के अनेक बहिरंग तत्त्वों का निर्वाह किया है। जैसे प्रस्तावना के संबंध में उनका अभिमत है ''नाटक की नियमावली में मुनिवर भट्टाचार्य ने पांच प्रकार की प्रस्तावना लिखी है। वह पांचों प्रणाली अति आश्चर्यभरित और सुंदर हैं।''[3] भारतेंदु और उनके युग के नाटकों की मूल आत्मा संस्कृत नाट्य रचना की ही है ।

भारतेंदु युग के कुछ प्रमुख लेखकों ने भी संस्कृत की अनेक नाट्यकृतियों का अनुवाद करते हुए संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति अपनी प्रतिबद्धता का परिचय दिया है। लाला सीताराम ने महाकवि हर्ष के 'नागानंद', महाकवि शूद्रक के 'मृच्छकटिक' कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' और भवभूति के 'महावीर चरित्र', 'उत्तररामचरितम्' तथा 'मालती माधव' का सुंदर अनुवाद किया है। पंडित ज्वाला प्रसाद मिश्र ने भट्ट नारायण के 'वेणीसंहार' और कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का, बालमुकुंद गुप्त ने महाकवि हर्ष की 'रत्नावली' नाटिका का तथा

पंडित सत्यनारायण कविरत्न भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' और मालती माधव का अनुवाद किया है। बालमुकुंद गुप्त जैसे सजग लेखक ने भी संस्कृत नाटक के अनुवाद में अपनी नाट्य लेखन क्षमता को प्रमाणित किया है ।

वास्तव में संस्कृत नाट्य परंपरा के प्रति हिंदी नाटककारों का अटूट आकर्षण और ज्ञान श्लाघनीय है। संस्कृत नाटकों के अनुवाद से हिंदी नाटक साहित्य समृद्ध हुआ है। आधुनिक हिंदी नाट्य साहित्य के इतिहास के विभिन्न युगों में भी संस्कृत नाटकों और नाट्शास्त्र के प्रभाव को देखकर हम चमत्कृत होते हैं। उपर्युक्त अनुदित नाट्य कृतियाँ संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति भारतेंदु युगीन साहित्यकारों की निष्ठा और अध्ययनशीलता को व्यक्त ही नहीं करती है, अपितु इस तथ्य को भी रेखांकित करती है कि आधुनिक हिंदी नाट्य साहित्य की भूमिका में संस्कत नाटकों और नाट्शास्त्र की महती भूमिका रही है।

संदर्भ -

1. *भारतेंदु ग्रंथावली, भाग 1, पृष्ठ 413*
2. *डॉ. जयकुमार जलज, संस्कृत और हिन्दी नाटक। रचना और रंगकर्म पृ. 180*
3. *भारतेंदु नाटकावली, नाटक शीर्षक निबंध, द्वितीय भाग,पृ 432*

लेखक परिचय

डॉ. प्रभात कुमार सिंह	-	विभागाध्यक्ष संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय चुनार, मीरजापुर, उ.प्र.
डॉ. सकीना कुमारी सालवी	-	बी-49 न्यू टीचर्स फ्लैट, बी.एच.यू. वाराणसी, उ.प्र-22100
रवीन्द्र कुमार पंथ	-	सहायक आचार्य (संस्कृत) पं. जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय, बांदा, उ.प्र.
शान्तनु प्रधान	-	पी.एच.डी. शोध-छात्र, संस्कृत विभाग, पाण्डिचेरी विश्वविद्यालय, पाण्डिचेरी
प्रो. शालिनी सक्सेना	-	प्राचार्य, राजकीय महाराज आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर, राजस्थान
डॉ. राजेश मीणा	-	सह-आचार्य, अनुसंधान प्रकाशन विभाग, राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरुपति आन्ध्रप्रदेश- 517507
डॉ. अभिनेश्वर सिंह	-	संस्कृत प्राध्यापक, सुभाष इ. कॉलेज, मथुरा, उ.प्र.
डॉ. सीमा यादव	-	एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, म.गां.का.वि. वाराणसी, उ.प्र.
डॉ. अशोक कँवर शेखावत	-	सह आचार्य, संस्कृत विभाग राज. स्नातकोत्तर महाविद्यालय झालावाड़, (राज.)
श्रीमति मौमिता घोष	-	असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग डॉ. बी.आर. अम्बेडकर सतबर्षिकी महाविद्यालय हेलेंचा, पश्चिम बंगाल

अम्बरीश - शोध-छात्र, संस्कृत विभाग, पाण्डिचेरी विश्वविद्यालय, पाण्डिचेरी

डॉ. किरण आर्या - सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र.

डॉ. सुकदेव वाजपेयी - अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, स्वामी विवेकानन्द विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

डॉ. मैत्रेयी कुमारी - एसोसियट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-49

रंजना यादव - शोध छात्रा- संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.

पूजा कुमारी - शोधार्थिनी, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन, संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. गोपाल लाल मीणा - आचार्य-संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली

डॉ. दशरथ कुमार चौधरी - असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम आर्टस, कामर्स एवं साइंस, गर्वमेन्ट कॉलेज, सिलवासा, दादर नगर हवली

डॉ. हेमन्त शर्मा - सहायक प्राध्यापक, संस्कृत साहित्य शासकीय दू.श्री.वै. संस्कृत महाविद्यालय रायपुर, (छ.ग.)

डॉ. संदीप कुमार यादव - असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज, उ.प्र.

डॉ. सञ्जय कुमार - सहायक-आचार्य, संस्कृत-विभाग,
डॉक्टर हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र

डॉ. नौनिहाल गौतम - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

डॉ. रामहेत गौतम - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

डॉ. शशिकुमार सिंह - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

डॉ. वर्षा खण्डेलवाल - सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग,
राजकीय महाविद्यालय राजगढ़ (अलवर) राज.

प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी - अध्यक्ष, संस्कृत एवं हिन्दी विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.